

पंचास्तिकाय प्रवचन तृतीय भाग

जीवा अणाहणिहणा संता णंता य जीवभावदो ।

सञ्चावदो अणंता पंचगगुणप्पधाणा य ॥५३॥

कर्तृत्व अन्तराधिकार—इस गाथा से पहिले २६ गाथावों में आत्मा के सम्बंध में यह जीव है, यह चेतयिता है और उपयोग से विशेषित है—इन तीन विशेषणों का वर्णन किया गया है। अब जीवतत्व के सम्बंध में प्रभुता और कर्तृत्व का संयुक्त मुख से वर्णन चलेगा, जिसमें वर्णन तो कर्तापन का होगा, पर कर्तापन के वर्णन से प्रभुता अपने आप प्रकट हो जायगी। इस कर्तृत्व गुण के वर्णन में सर्वप्रथम भूमि का रूप में कह रहे हैं। जीव अनादि निधन है, अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। यह जीव सान्त भी है, अनन्त भी है और ५ प्रमुख गुणों कर के प्रधान है।

कर्तृत्व का मर्म जानने के लिए एक वस्तु के परिमाण के अवगम की आवश्यकता—कोई भी जीव निश्चय से पर के भावों का करने वाला हो नहीं सकता, इस कारण स्व के भाव का ही कर्ता होगा। एक वस्तु कितनी होती है, इतनी जानकारी हुए बिना वस्तु किसका कर्ता है, किसका भोक्ता है, यह समझ में नहीं आ सकता। इस कारण सर्वप्रसंगों में यह बात ज्ञान से ओझल न होनी चाहिए कि वस्तु कितनी है? एक वस्तु उतनी होती है जिसका कोई एक परिणमन जिससे बाहर न हो और जिस पूरे में होना ही पड़े, उतनी वस्तु एक होती है। जैसे लकड़ी जलाई जाती है ना, तो कहने को तो लोग कहते कि लकड़ी एक है, लकड़ी का एक छोर जल रहा है, बाकी लकड़ी नहीं जल रही है तो फिर कहाँ वह एक रही? एक तो वह होता है कि जो भी परिणमन हो वह एक ही समय में जितने पूरे में हो उसे एक कहते हैं। जैसे आपका आत्मा एक है, आपका जो भी परिणमन होता है सुख का, दुःख का, ज्ञान का कोईसा भी परिणमन है वह परिणमन आपके सर्वप्रदेशों में एक होता है। वही का वही एक परिणमन आपके सर्व स्वक्षेत्र में होता है तब आप एक कहे जाते हैं। क्या कभी ऐसा भी होता है कि आप सुखी हो रहे हों तो पैरों से लेकर सिर तक जितना यह आत्मा है उसमें आधे में सुख हो रहा हो और आधे में दुःख हो रहा हो, ऐसा तो नहीं होता। कोई भी परिणमन हो वह आत्मा में पूरे में हुआ करता है। ऐसी ही बात प्रत्येक पदार्थ को है। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने आपके पूरे में होता है। ये दिखने वाले सर्व समागम एक पदार्थ नहीं हैं, वस्तुभूत नहीं है परमार्थरूप नहीं- हैं। मायारूप हैं, संयोगजन्य हैं, अनेक पदार्थों का समूह हैं।

आत्मा का परिमाण व कर्तृत्व—इस प्रकरण में यह बताना है कि यह हैं आत्मा किसे का करने वाला हूँ? इसका स्पष्ट निर्णय जानने से पहिले अपने आपको यह देख लो कि मैं आत्मा कितना एक हूँ? बस यह मैं आत्मा हूँ, जितने अनुभव का यह विषय बन रहा है वह मैं एक हूँ। तो इस एक से बाहर जो कुछ भी हो वह तुम से अत्यन्त जुदा है ना, चाहे एक क्षेत्र में यह शरीर भी पड़ा है, यह कार्मण शरीर भी पड़ा है, लेकिन उस लक्षण को देखकर जो परिणमन जिस मुझ में पूरे में होता है वह मैं एक हूँ। इस दृष्टि से शरीर भी अत्यन्त जुदा है और ज्ञान भी अत्यन्त जुदा है। जो मुझ से जुदा है उस पर मेरा प्रयोग नहीं हो सकता। मेरे परिणमन का प्रयोग मुझ पर ही होगा। मेरे से बाहर मेरी करतूत नहीं हो सकती। मैं परिणम रहा हूँ तो भी अपने में विकल्परूप से कर्ता हो रहा हूँ, किसी अन्य से नहीं। निश्चय से यह आत्मा किसी पर के भाव को करने में समर्थ नहीं है, इससे यह स्व के परिणामों का ही कर्ता हो सकता है।

आत्मा का कुछ विवरण—मैया! स्व के परिणामों का करने वाला यह आत्मा कैसा है, इसके सम्बंध में कुछ विशेष भी जानकारी होनी चाहिए। यह मैं आत्मा अनादि से हूँ, अनन्तकाल तक रहने वाला हूँ, क्या ऐसा है? हाँ है। यह मैं किसी समय से हूँ, और किसी समय तक रहूंगा, ऐसा भी है क्या? हाँ ऐसा भी है। यह आत्मा किसी दिन से हो, किन्तु सदाकाल रहे, ऐसा भी है क्या?

ऐसा भी है। यहाँ कभी स्वभावपर दृष्टि देना है, कभी पर्याय पर दृष्टि देना है, इन दोनों दृष्टियों से इसका निर्णय होगा। सभी उत्तर न केवल स्वभावदृष्टि से आयेंगे, न केवल पर्यायदृष्टि से आयेंगे। जब हम इस जीव को सहज चैतन्यस्वरूप परमपारिणामिकभाव को मुख्यता से देखते हैं तो यह दृष्टि होता है कि जीव अनादिनिधन है। जो भी पदार्थ है उसका स्वभाव अनादि से है, जो भी है उसकी सत्ता अनादि से है। कुछ न हो और बन जाय यह कैसे हो सकता है? किस मैटर से बना, कुछ चीज तो होना चाहिए। यह मैं आत्मा प्रतिसमय कुछ न कुछ बनता चला जा रहा हूँ। तो मैं मूल में कुछ तो सद्ग्राव हूँ तब तो यह बात बनेगी। मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूँ और चैतन्यस्वभाव अनादि अनन्त है। किसी का स्वभाव कभी बना हो, कभी खत्म हो जाय, यह कभी नहीं हो सकता। यदि कोई स्वभाव कभी बने कभी खत्म हो तो वह द्रव्यस्वभाव नहीं है, पर्याय स्वभाव है, पर्याय की प्रकृति है ऐसी। कभी प्रकृति बनी और कभी खत्म हो गई, पर मैं जो सहजस्वभावरूप में हूँ वह अनादि से हूँ और अनन्तकाल तक रहने वाला हूँ। यों स्वभावदृष्टि से जीव अनादि अनिधन है।

परिणमनदृष्टि में सादि सान्तता—अब पर्यायदृष्टि से निरखिये—जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर ये भाव प्रकट होते हैं। यह भाव बतलावों किसी दिन से हुए ना और किसी काल में खत्म हो जायेंगे ना? कोई भी विकार हो, आत्मा के परिणामरूप विकार ये अन्तर्मुहूर्त में बदलते रहते हैं। क्रोध सदा न रहेगा मान बन गया, मान सदा न रहेगा माया बन गया, माया सदा न रहेगा लोभ बन गया। तो यों क्रोध पर्याय से परिणत आत्मा को यह आत्मा है ऐसा निरखकर क्या यह न कहा जायगा कि यह सादि है और सान्त है? यह पर्याय मिट भी जाने वाली है, यों औदयिक भाव की अपेक्षा से जीव सादि सान्त है, इसी प्रकार क्षयोपशमिक भाव होता है विचार, विकल्प, कल्पना, तर्क ये सब क्षयोपशमिक चल रहे हैं। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्त है और यह पूर्णापूर्ण ज्ञान प्रकट हो रहा है। ऐसा यह क्षयोपशमिक भाव किसी क्षण से हुआ है और किसी क्षण तक रहेगा। यह सादि सनिधन है। यों ही औपशमिक भाव भी सादि सान्त है। कर्म दब गया और वहाँ जो निर्मलता प्रकट हुई है वह औपशमिक भाव है। वह भी किसी क्षण हुआ था किसी क्षण समाप्त होगा, यह भी सादि सान्त है। तो यों जीव अनादि अनिधन हुआ, सादि सान्त हुआ।

परिणमनदृष्टि में सादि अनन्तता—अब क्षणिक भाव की दृष्टि से देखिये—यह जीन यह सादि अनन्त है। कर्मों का विनाश होने के निमित्त से जो निर्मलता प्रकट होती है वह निर्मलता सादि है, किन्तु क्या यह निर्मलता आगे समाप्त हो जायगी? क्या यह निर्मलता विलीन हो जायगी? न रहेगी ऐसा तो नहीं है। कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर जो निर्मलता प्रकट होती है वह प्रकट होकर अनन्तकाल तक रहेगी। यों क्षायिक भाव सादि और अनन्त है और चूंकि यह आत्मा भावमय हुआ करता है तो क्षायिक भावमयता की दृष्टि से यह जीव भी सादि अनन्त हो गया।

यहाँ ऐसा कुर्तक न किया जाना चाहिए कि अगर किसी चीज की आदि है तो उसका अन्त भी जरूर है, सो क्षायिक भाव का जब आदि होता है तो उसका अन्त भी जरूर होता है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से यह कुर्तक नहीं किन्तु तर्क-वितर्क है। शुद्ध ऋजुसूत्रनय से पदार्थ के प्रत्येक परिणमन किसी समय उत्पन्न होते हैं और किसी समय दूर हो जाते हैं। क्षायिकभाव जैसा निर्मल परिणाम भी प्रतिसमय में नवीन-नवीन होता रहता है, सदृश होता है, परन्तु यहाँ क्षायिक साधारण की बात चल रही है। क्षायिक भाव उत्पन्न होकर वह नष्ट हो जाय ऐसा नहीं है। जैसे औदयिक भाव उत्पन्न होता है तो वह नष्ट हो जायगा। यों ही क्षयोपशमिक और औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं और वे नष्ट हो जायेंगे ऐसा क्षायिक भाव में न लेना। क्यों न लेना कि जो क्षायिक भाव में अब विकास है वह पहिले उपाधि के कारण नथा। उपाधि के निवृत्त होने पर जो कुछ भी भाव प्रवर्तमान होता है वह जीव के सहज सत्त्व का भाव है, वह अलग से आया हुआ भाव नहीं है। इस कारण क्षायिक भाव की आदि तो है, पर उसका अन्त नहीं है।

अपनी बात—यह बात चल रही है अपनी। मैं क्या हूँ, केवल इतनी ही बात कही जा रही है। मैं क्या हूँ, इसका निर्णय किए बिना जिसने जो नाम धर दिया उसी रूप अपने को मान लेते हैं और विपदा के प्रसंग में अर्थात् सभी करतूतों के प्रसंग में यह अपने आपको उस रूप पेश कर लेता है। मैं अमुक नाम का हूँ, अमुक पोजीशन का हूँ इत्यादि। ये यथार्थज्ञान नहीं हैं, ये तो बाहरी बातें हैं। यह भी जानना है कि मुझ में जितने विकल्प होते हैं, जितने विषयभाव उत्पन्न होते हैं, इच्छाएँ जगती हैं ये सब परमार्थ से मैं नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप हूँ, इस ही से अनादि अनिधन कहा है, इस ही को परमपारिणामिक भाव कहा है।

पारिणामिक भाव की दृष्टि से आत्मा की अनादि अनन्तता—परिणामिक भाव का अर्थ है—परिणमन जिसका प्रयोजन है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। ये पर्यायें क्यों हो रही हैं, इनकी क्या आवश्यकता है? ये पर्यायें इस ध्रुव पदार्थ का सत्त्व बनाए रहने के लिए हो रही हैं। तो पर्यायें जिसके प्रयोजन के लिए होती हैं उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। यह उसका फलित अर्थ है। वास्तविक अर्थ तो यह है कि जिसके लिए पर्यायें हुआ करती हैं वह पारिणामिक भाव है। स्वरूप ही ऐसा है, स्वभाव ही यों है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय परिणत होता रहता है। जो पर्याय है वह तो सादि है, सान्त है, किन्तु उन पर्यायों का आधारभूत जो शाश्वत पदार्थ है वह पदार्थ अनादि अनन्त है। यह मैं अनादि से हूँ, अनन्तकाल तक रहूँगा। जितने दिनों का यह मनुष्य जीवन है मैं उतना ही मात्र नहीं हूँ, इससे पहिले अनन्तकाल पहिले से मैं हूँ और इसके बाद भी अनन्तकाल तक हूँ अर्थात् सदा से हूँ और सदा तक रहूँगा।

ज्ञानी की चिन्तना—अब इतने थोड़े से जीवन में जैसे जो कुछ भी समागम पाया है उसमें ही आसक्त हो जायें, यही मेरा सब कुछ है, ऐसा मान ले तो जो इस जीव की अनादि अनन्तता समझते हैं वे इसकी इस करतूत पर हास्य करते हैं। इस थोड़े से समय के लिए मिले हुए समागम में यह मैं हूँ ऐसी आत्मीयता का यह निश्चय कर रहा है। यह तो अनादि अनंत है, यह जीव परमार्थः अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वभाव को लिए हुए है। इसमें ये विभावपरिणतियाँ कैसे आयीं और उनके कारण यह आदि अन्त वाला कैसे बनता जा रहा है?

आत्मा की परिणमनशीलता—कोई ऐसी आशंका करे कि हमें तो विश्वास नहीं होता कि यह आत्मा ही स्वयं विभावरूप बन रहा है, और कुछ दर्शनिक ऐसे हैं भी जो इस आत्मा को सदा शुद्ध मानते हैं। यह न कभी अशुद्ध हुआ, न अशुद्ध होगा, किन्तु जंच रहा है भ्रम में ऐसा कि यह मैं हूँ और अशुद्ध हूँ। खैर, यह तो एक बड़े विस्तृत दर्शन की बात है। संक्षेप में यों समझना कि आत्मा तो सर्वथा अपरिणामी है, कभी बदलता ही नहीं है। यों कह लो कि इस आत्मा में सुख दुःख नहीं होते। तब तो फिर सुख दुःख अचेतन में होते तो अचेतन इसकी फिक्र करें, मैं क्यों फिक्र करूँ? ये राब आपत्तियाँ इस चेतन में ही हो रही हैं, और ये इसमें अनादिकाल से कर्ममलीमसता के कारण होती हैं, और जब होती हैं उस समय हम उस आकाररूप परिणम जाते हैं। जैसे कीचड़ से सना हुआ पानी, बरसात का गंदा पानी उस पानी का स्वभाव निर्मल है। कीचड़ का सम्बंध होने से वह पानी मलीमस है और उस समय मलीमसता के आकाररूप परिणत है, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि सहज चैतन्यस्वरूप है, किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरण आदिक कर्मों की उपाधि से मिला हुआ है और उस विजातीय परद्रव्य का निमित्त पाकर इस जीव में क्रोध आदिक विकार उत्पन्न हो रहे हैं, यों यह आत्मा औदयिक भावों से तन्मय बन गया, और फिर जब उन भावों का उपशम होता है, कर्मों का क्षयोपशम होता है तब औपशमिक और क्षयोपशमिक भाव भी बनते हैं, यों यह आत्मा चित्र-विचित्र भी है। हम दुःखी हैं, मलीमस हैं, अशुद्ध हैं और इस कारण निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

स्वचर्चा व परचर्चा की स्थिति का अन्तर—देखो जब अपने ज्ञान की चर्चा अपने में की जा रही है, देखी जा रही है उस समय

के शान्ति और आनंद को परखिये, और जब यह आत्मा ज्ञानदृष्टि से चिंगकर किन्हीं बाह्यपदार्थों में रमता है उस समय की शान्ति को देख लीजिए। शांति प्राप्त करना तो अपने अधीन बात है, जब चाहे ज्ञान कर लें और शान्त हो लें। इतनीसी सुगम बात अथवा यह योग्यता जिन जीवों के प्रकट हो जाती है वे ही जीव संसार के संकटों को टालने में समर्थ होते हैं। अपने आपका इुकाव अपने आप में लग जाना, अपने आपको निरखना यह कुछ कठिन बात नहीं है। एक इसकी जिजासा होनी चाहिए, रुचि बननी चाहिए। रुचि भिन्न पौद्गलिक असार पदार्थों की न हो तो यह बात सुगम है। पर की रुचि और अपने आपकी रुचि ये दोनों बातें एक उपयोग में नहीं ठहर सकतीं। जैसे एक सूई एक ही समय में आगे पीछे दोनों दिशाओं की ओर सींती जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता, ऐसे ही यह उपयोग बाह्यपदार्थों में रमे और उस ही समय आत्मा के शुद्ध चमत्कारों में भी रमे तो ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

अपने कर्तव्य का निर्णय—भैया! पहिले तो अपनी छांट कर लीजिए, इस नरजीवन से जीकर आखिर करने को एक मात्र उत्कृष्ट काम क्या है, खूब निर्णय कर लीजिए। निर्णय में यह जंचे कि मेरा काम मेरे ज्ञानस्वरूप को चेतारहने का है, अब इस और आपकी साधना शीघ्र सफल हो जायेगी। बल्कि परपदार्थों की रुचि कर-करके आप परपदार्थों में कभी सिद्धि नपा सकेंगे। अपने आपके अनादि अनंत आत्मस्वरूप में मैं चिन्मात्र हूँ, ऐसी बारबार ज्ञानभावना बने तो आत्मा में शान्ति का अम्युदय हो। मुझे अपने ज्ञान, अपने दर्शन और अपने में ही रमना जितना बन सके, सर्व उद्यम कर के ऐसे ही रत्नत्रय की साधना करनी चाहिए।

|

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उपादो ।

इदि जिणवरेहि भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥५४॥

पञ्च जीवभाव—जीव में ५ प्रकार के भाव हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। मोहनीय कर्म के उपशम से जो सम्यक्त्व और चारिभाव होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और औपशमिक चारित्र कहते हैं। यह भाव इस जीव में किसी समय से होता और किसी समय समाप्त हो जाता है अर्थात् इस भव की आदि है और अन्त है। क्षायिक भाव जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिकभाव की आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है। क्षायिक भाव में जो तत्व प्रकट हुआ है वह अनन्तकाल तक रहेगा। क्षायोपशमिक भाव जो किसी प्रकृति के उदयभावी नय से व उपशम से और किसी प्रकृति के उदय से जो अल्पविकास प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इस भाव की भी आदि है और अन्त है। कभी प्रकट हुआ और कुछ समय बाद यह नष्ट हो जाता है। औदयिक भाव जो कर्मोदय के निमित्त से हो, रागद्वेष विकार विषय कषाय ये सब औदयिकभाव हैं। औदयिक भाव की आदि है और अन्त है। पंचम भाव है पारिणामिक जीव का जो शाश्वत स्वभाव है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भाव की न आदि है और न अन्त है।

जीव में असदुत्पाद व सदुच्छेद की दृष्टि—इन ५ भावों में आदि अन्त की विभिन्नता करते हुए में यह बात बन गयी कि यह जीव भावमयी है, उन भावों की अपेक्षा जो कि आदि अन्त से सहित है। उन सत् हुए भावों की अपेक्षा इस सत् जीव का भी विनाश है और असत् का उत्पाद है। जो विनश्वर भाव उत्पन्न हुए हैं वे अब नहीं रहे, सो उन भावों मय जीव का विनाश है और जो भाव न थे और हो गये उन भावों मय जीव का उत्पाद है। इस प्रकार विनाश और उत्पाद दोनों ही एक जीव में घटित हो जाते हैं। उनका परस्पर में कुछ विरोध नहीं होता, क्योंकि इन ५ प्रकार के भावों से परिणमन करने वाले जीव के सत् का विनाश असत् का उत्पाद घटित होता है। कभी जैसे औदयिक एक मनुष्यगति हुई, अब वह मनुष्य आयु समाप्त होने पर मर गया और आगे किसी देवगति में पहुंचा तो वह मनुष्यत्व सत् तो था, ऐसा नहीं कि वह असत् हो, केवल कल्पना की बात होने रूप यह जीव

अपरिणामी हो। अब उस सत्त्वरूप मनुष्यत्व का भी विनाश हो गया और देवत्व भाव उत्पन्न हुआ है तो देवत्वरूप से यह जीव था, कहाँ देव था, लेकिन उस असत् का उत्पाद हो गया। इस तरह यह बात घटित होती है कि सत् का विनाश होता है और असत् का उत्पाद होता है।

नयचक्र की साधना से परस्पर अविरोध—भैया! यहाँ एक बात ध्यान में रखिये, पहिले इसका खण्डन किया था, सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता, यह बात बड़ी युक्तियों से समझा दी गयी थी। जो चीज सत् है उसका कैसे विनाश होगा और जो चीज कुछ है नहीं उसका उत्पाद कैसे होगा? सो यहाँ नयचक्र की साधना से सुनना। ये परस्पर के दो प्रकरण के कथन भी इस स्याद्वाद में विरोध को प्राप्त नहीं होते। जहाँ यह बताया जाता है कि जो सत् है उसका विनाश नहीं होता, जो असत् है उसका उत्पाद नहीं होता वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से कहा गया है, और जहाँ यह कहा जाता है कि सत् का विनाश हो जाता है और असत् का उत्पाद हो जाता है वह पर्यायदृष्टि से कहा हुआ कथन है। जीव जो सत् है वह क्या कभी विनष्ट हो सकता है? और द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो जो कुछ है ही नहीं, जब कुछ है नहीं तो उसका उत्पाद हो सकता है क्या? नहीं हो सकता, किन्तु जब पर्यायार्थिक दृष्टि से देखते हैं तो सत् का विनाश है और असत् का उत्पाद है। जो पर्याय नहीं है वह हो जाती है, जो पर्याय है उसका नाश हो जाता है।

असदुत्पाद व सदुच्छेद पर एक दृष्टान्त—एक दृष्टान्त लीजिए। जैसे समुद्र की लहरें। लहरों की दृष्टि से यह कह सकते हैं ना कि जो नहीं है वह पैदा हो गया। जैसे जल के जिस स्थल पर लहरें न थीं, वहाँ लहरें बन गयीं, तो थीं तो नहीं लहरें, अब हो गयीं और ये लहरे आगे चलकर नष्ट हो जाती हैं, तो जो है उसका विनाश हो गया। किन्तु समुद्र को तो ऐसा नहीं कह सकते कि समुद्र न था और वह हो गया, और समुद्र था वह नष्ट हो गया। तो जैसे उस समुद्र की दृष्टि से सत् का विनाश नहीं है, असत् का उत्पाद नहीं है, ऐसे ही लहरों की दृष्टि से सत् का विनाश है और असत् का उत्पाद है। वहाँ यह भी देख लीजिए कि लहरों मय समुद्र है। वे लहरें समुद्र से कोई जुदी वस्तु नहीं हैं, समुद्र की ही एक अवस्था बनी है। उनमें और अवस्थावान का इस तरह अभेद रहता है। कुछ चीजें वहाँ दो नहीं हैं। वह ही एक समुद्र लहरों रूप परिणम रहा है।

जीवद्रव्य में असदुत्पाद व सदुच्छेद का विवरण—ऐसे ही जीवद्रव्य में निरखिये- इसमें विषयकषाय, रागद्वेष अदिक तरंगें उठती हैं, वे तरंगें इस आत्मा से भिन्न नहीं हैं। हाँ औपाधिक हैं, नष्ट हो जायेंगी। यों स्वभावदृष्टि देखने से वे भिन्न-भिन्न हैं, पर विभावों का आधार और कुछ हो, जीव का आधार और कुछ हो, ऐसा नहीं है। वह एक जीव विस्तार है और वह नामा विषयकषायों के रूप से परिणम गया है।

पदार्थ की त्रित्यात्मकता—पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, ये तीन बातें स्वभाव से पड़ी हुई हैं। जो होता है, जो है, जो सत् है उसका नियम से उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होगा ही। लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बनता तो हो, पर बिगड़ता न हो, वह बना रहता न हो। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बिगड़ता तो हो, परे बनता न हो या बना रहता न हो, ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो बना रहे पर बने और बिगड़े नहीं। कुछ भी वस्तु हो जो भी सद्बूत है वह नियम से प्रतिक्षण बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। यहाँ बिगड़ने से मतलब उस बिगड़ से नहीं है जिसे हम आप नहीं चाहते हैं। जो अपने को अनिष्ट जंच जाय उसे लोग बिगड़ कहते हैं। लो काम बिगड़ गया। अरे काम बिगड़ गया तो कुछ बना भी कि नहीं? ऐसा कोई नहीं है जो केवल बने तो सही पर बिगड़े नहीं या बिगड़े तो सही पर बने नहीं। चौं की जल गयी तो आप क्या कहेंगे? काम बिगड़ गया कि बन गया? लोग तो यही कहेंगे कि भाई काम बिगड़ गया। अरे बना नहीं क्या कुछ? राख तो बन गयी। किसी का घर जल गया, लो लोग कहेंगे अरे काम बिगड़ गयीं। ते। क्या बिगड़ ही गया, बना कुछ नहीं? अरे राख तो बन गया।

स्वार्थाशय में बने बिगड़ की छांट—आपको घर प्यारा है इसीलिए बिगड़ गए, पर दृष्टि आपकी रहती है, बन गए पर नहीं। किसी स्वार्थी मनुष्य को राख चाहिये हो काफी अधिक बहुत से बर्तन मलने के लिए तो उसकी दृष्टि में तो उसका काम बन गया और जिसे घर प्रिय है उसके लिए बिगड़ गया। तो यह तो अपने निर्णय की बात है। परंतु पदार्थ में जो अवस्था बनी है उसका तो नाम बनना है और जो अवस्था विलीन हुई है उसका नाम बिगड़ना है। आप किसी स्थिति को बिगड़ा-बिगड़ा ही क्यों देखते हैं, बना क्यों नहीं देखते हैं। मोह का प्रताप है इसलिए आप किसी पदार्थ को बना और किसी को बिगड़ा देखते हैं। अरे देखो, तो दोनों एक साथ देखो। यह बिगड़ा और यह बना। पदार्थ का स्वरूप ही उत्पाद-व्यय-भौव्यात्मक है। बना है तो कुछ बिगड़ा है, बिगड़ा है तो कुछ बना है।

हर्ष विषाद समता के भाव से पदार्थ की त्रितयात्मकता की सिद्धि—भैया ! यह तो अपने अपने मन की बात है कि कोई बिगड़ में खुशी मानता है और कोई बिगड़ में दुःख मानता है। और कोई बिगड़ में न सुख मानता है और न दुःख मानता है। कोई तीन पुरुष बाजार में गए। एक ने सोचा कि मुझे सोना खरीदना है, एक ने सोचा कि मुझे भगवान के अभिषेक के लिए सोने की दो कलसियाँ खरीदना है। एक ने सोचा कि हमें अभिषेक के समय के लिए चार मुकुट खरीदना है। तीनों आदमी बाजार गए। अलग-अलग घर के रहने वाले थे, तो एक सराफ के यहाँ कलसियाँ तोड़ कर मुकुट बनाये जा रहे थे, कलसियाँ बिक न रही, थीं, सो सोचा कि इनका मुकुट बनवाकर बेच देंगे। तीनों आदमी उस दुकान पर पहुंचे। अब जिसको मुकुट चाहिए था वह तो खुश होने लगा, अब क्या है, अब दो मिनट में ही मेरा काम बना जाता है, ले जायेंगे। वह तो मुकुट के बनने पर खुश होता है। जिसे कलसियाँ चाहियें थीं वह दुःखी होता है। सोचता है कि यदि मैं १५ मिनट पहिले आ जाता तो बनी बनाई कलसियाँ मिल जाती। वह कलसियों के बिगड़ने पर दुःखी होता है। और जिसे सोना चाहिए था उसे न हर्ष है और न विषाद है। भाई कलसियाँ मिल जाये तो ठीक, मुकुट मिल जाय तो ठीक, सोना लेने से मतलब। तो उन तीनों की अलग-अलग परिणतियाँ हो रही हैं, उसका आश्रयभूत कारण क्या है? यह उत्पाद, व्यय और धौव्य।

पदार्थ में उत्पादव्ययधौव्य की अनिवार्यता—उत्पाद-व्यय-धौव्य को छोड़कर कोई पदार्थ कभी रह ही नहीं सकता। है ही कुछ नहीं। बतावो ऐसा कौन है जिसमें उत्पादव्यय धौव्य न हो और हो? है कुछ ऐसा? चाहे व्यर्थ की कल्पनाएँ करके गधे के सींग मान लो। वहाँ पर भी आपकी कल्पना का उत्पाद व्यय और धौव्य रहेगा। जब गधे के सींग होते ही नहीं हैं तो उनका उत्पाद व्यय और धौव्य कहाँ से होगा? यदि कल्पना से गधे के आपने सींग मान लिया तो वहाँ गधे की सींग से कुछ भी मतलब नहीं रहा। फिर तो वह गधे का सींग आपके दिल में फिट बैठा है। वह सींग गधे पर न बैठ पाया। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो उत्पाद व्यय धौव्य से शून्य हो।

उत्पादव्ययधौव्य के विशेष प्रतिपादन का कारण—जैनशासन में इस वस्तुस्वरूप के वर्णन की बड़ी प्रधानता दी है। इसके होने का यह कारण है कि वस्तु के इस यथार्थस्वरूप के ज्ञान से ही मोह दूर होता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय परिणमते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे पदार्थ अपने ही स्वरूप से परिणमते हैं दूसरे के स्वरूप से नहीं परिणमते हैं। हमारा आपका कितना भी घनिष्ठ स्नेह हो और आप चाहे हमारी अनुकूल इच्छानुसार कितने ही काम कर लें तिस पर भी हमारे परिणमन को आपने नहीं किया, किन्तु आपने अपने ही परिणमन से कार्य किया है। कोई पदार्थ किसी दूसरे के रूप से नहीं परिणमता, अपने ही स्वरूप से परिणमा करता है, तब अपनी ही पर्याय से विलीन होता है और अपने ही सत्त्व से बना रहता है। जब प्रत्येक पदार्थ की ऐसी स्थिति है तो फिर यह बतलावो कि एक पदार्थ किसी दूसरे का हो कैसे जायगा?

मानने के अनुसार वस्तुस्वरूप का अनिर्माण—भैया ! भ्रम से मानते जावो—यह मेरा है, यह मेरा है, बस मानने ही मानने

की बात है, बन कुछ नहीं सकता अपना। कैसा भी महाबली हो, कैसा भी महान नायक हो, मनुष्यों में तीर्थकर और चक्रवर्ती से बढ़कर किसका और दृष्टान्त दिया जाय, वैभव और यश में और कैन से मनुष्य की बात कहें, जब इनका भी कुछ नहीं रहा यहाँ, तब अन्य बात क्या कही जाय? तीर्थकर भी सर्व वैभव त्यागकर केवल एक आत्मीय अनुभव में रत हुए। तीर्थकर में महान बल बताया जाता है। कल्पना कर लो २० बकरों में जितना बल होगा उतना बल तो एक गधे में होता होगा और २० गधों में जितना बल होगा उतना बल एक घोड़े में होता होगा। कुछ कल्पना लगा लो। २० घोड़ों में जितना बल है उतना बल एक भैंसा में होता होगा। २० भैंसों बराबर बल एक हाथी में और अनेकों हाथी बराबर बल एक सिंह में और सैकड़ों सिंहों बराबर बल मान लो एक देव में और सैकड़ों देवों बराबर बल इन्द्र में और सभी इन्द्रों बराबर बल तीर्थकर भगवान की एक अंगुली में। अब उसे किसी भी रूप में देख लो, प्रताप की दृष्टि से, पुण्य की दृष्टि से, शक्ति की दृष्टि से। ऐसे महाबली वैभववान सर्व पूजित तीर्थकर भी किसी वस्तु को अपनी नहीं बना सके।

वस्तुस्वरूप की अनादिता—किसी वस्तु को कोई अपनी बना ही नहीं सकता। प्रत्येकपदार्थ अपने ही उत्पादव्यधौव्य में तम्य हैं, दूसरे में नहीं। इसी कारण सभी पदार्थ अब तक टिके हैं और अनन्तकाल तक टिके रहेंगे। न कोई पदार्थ कम हो, न कोई पदार्थ ज्यादा हो। जो है जितना है उतना अनादि से है, अनन्तकाल तक है। कुछ लोग व्यर्थ ही अपने दिमाग को तकलीफ देते हैं, ऐसा सोचकर कि था क्या इस दुनिया में पहिले, और यह दुनिया कब से बनी? बनाने के सिद्धान्त बाले बनाने के ढंग से सोचते हैं और विकास के मंतव्य बाले विकास के ढंग से सोचते हैं, लेकिन वे दोनों के दोनों अन्य द्रव्यों से अन्य द्रव्यों का उत्पाद होता है, विकास होता है, इस विधि से सोचते हैं। तत्व भूत बात तो यह है कि यह समस्त लोक अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसमें न कुछ कभी बढ़ा है, न कुछ कभी घटा है। जितने परमाणु हैं वे अनन्तानन्त हैं, पर जो हैं सो ही हैं। असत् बनता नहीं, सत् मिटता नहीं, लेकिन पर्यायदृष्टि से उन्माद कह लीजिए, विकास कह लीजिए, सब घटित होता है।

जीव में उत्पाद व्यय ध्रौव्य का निर्देश—अपने आपके जीवद्रव्य में व्यञ्जन पर्याय से उत्पाद व्यय देखें तो यों समझिये कि जिस पर्याय का विनाश किया है और जिस नवीन पर्याय का ग्रहण किया है वहाँ उत्पादव्य है। गुणपर्याय की दृष्टि से सोचो तो आत्मा के गुणों में जिसका विकास हुआ है वह तो उत्पाद है और शक्ति का जो विकास हुआ है उस समय में पूर्व विकास विलीन हो जाता है वह व्यय है, और चाहे व्यञ्जनपर्याय में देखो अथवा गुणपर्याय में देखो—आधारभूत जीवद्रव्य वही का वही रहता है।

उपादेयता व भलाई—भैया! हम अपने आपकी ऐसी यात्रा बनाए हुए चले जा रहे हैं—कहाँ से आये हैं, कहाँ जायेंगे? न कोई बता रहा है और न कोई यों पूछ भी रहा है, न इसे खुद मालूम है और न दूसरों को कुछ मालूम है कि यह कहाँ से आया है, कहाँ जायगा? यह आत्मा पूर्व में कहाँ था, कैसा था, इसको क्या जाने, पर इतना तो निर्णय है ही कि यह पहिले जरूर था और इस भव के मरने के बाद भी यह जरूर रहेगा। इसका मूल से विनाश नहीं है। ऐसे विनश्वर और अविनश्वर स्वरूप अपने आत्मा में यह बात निरखिये कि शुद्धनिश्चयनय से अनादि अनन्त टंकोल्कीर्णवत् एक ज्ञानस्वभाव जो कि निर्विकार है, सदा आनंद-स्वरूप है, ऐसा यह आत्मतत्त्व ही उपादेय है। एक इस अमर ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि देना ही शरण है, इसमें ही अपनी भलाई है।

णेरद्धयतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी ।

कुब्बंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥५५५॥

जीवभवों के निमित्त उपाधि का वर्णन—जीव में नवीन भव का उत्पाद और पूर्वभव का विनाश क्यों हो जाया करता है, इसके निमित्तभूत उपाधि का प्रतिपादन इस गाथा में किया है। नारक, तिर्यज्व, मनुष्य और देव नाम की कर्मप्रकृतियाँ हैं, वे प्रकृतियाँ सत् का नाश करती हैं और असत्भाव का उत्पाद करती हैं। जैसे समुद्र है तो समुद्र में समुद्र की दृष्टि से, जल राशि की दृष्टि से न

तो उसमें असत् के उत्पाद का अनुभव है और न सत् के उच्छेद का अनुभव है। पानी है तो पानी का अभाव तो नहीं है, और जो नहीं है उसका सद्ग्राव तो नहीं है, फिर उत्पादव्यय कैसा? तो जल की राशि की दृष्टि से उत्पादव्यय नहीं है, किन्तु चारों दिशाओं से या किन्हीं दिशाओं से ऋम से बहने वाली जो हवा है वही समुद्र की लहरों में असत् का उत्पाद करता है और सत् का विनाश करता है। यह निमित्तभूत कारण बताया जा रहा है।

जीव में असदुत्पाद व सदुच्छेद पर समुद्र का दृष्टान्त—जैसे समुद्र स्वयं अपने समुद्रपने का विनाश नहीं करता और उसमें से अन्य चीज का उत्पाद नहीं करता, पर समुद्र में जो लहरों की परिणति होती है उस परिणति की दृष्टि से असत् का उत्पाद है और सत् का विनाश है, यह क्यों है उसका कारण है हवा। तो यों व्यवहारदृष्टि से चूंकि हवा ने असत् का तो उत्पाद किया, जो चीज न थी उसे तो उत्पन्न कर दिया और जो चीज थी उसका अभाव कर दिया। लहरों में होता क्या है? जहाँ कि जल पर कुछ भी उठाव नहीं है वहाँ उठाव आ जाना, जहाँ उठाव है वहाँ समान हो जाना, इसी के मायने लहरें हैं। तो जहाँ लहरें नहीं हैं वहाँ लहरें बन जाना जहाँ लहरें हैं वहाँ लहरें मिट जाना अथवा बिना लहरों वाली स्थिति का अभाव हो जाना, लहरों वाली स्थिति का उत्पाद हो जाना इसका कारण है हवा। तो वह हवा असत् का उत्पाद और सत् का उच्छेद करता है। ऐसे ही इस जीव पदार्थ में देखो जीव का जीव स्वरूप से न तो सत् का उच्छेद है और न असत् की उत्पत्ति है, पर भ्रम से उदय में आने वाली जो नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव नाम की प्रकृति है वह प्रकृति सत् का उच्छेद करती है और असत् का विनाश करती है।

पदार्थ का परिणमनस्वभाव—प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है कि वह अपन रूप परिणमे, किन्तु पदार्थ के विपरीत परिणमन की योग्यता हो तो अन्य उपाधि के सम्बन्ध का निमित्त पाकर विपरीत परिणमन हो जाया करता है। जीव का यह काम न था कि यह अमृत, ज्ञानघन, आनन्दपुञ्ज, शुद्ध ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व कहीं नाना प्रकार के इन शरीरों रूप फंसा रहे और अपने स्वभाव से विरुद्ध अन्य-अन्य परिणमनों का अनुभव करता रहे। यह जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु हो तो रहा है ऐसा ही। उसका कारण कर्मउपाधि है।

शरीरस्त्रना की विभिन्न मान्यतायें—जीव का शरीर मरने के बाद कैसा बन जाता है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोग अपने भिन्न-भिन्न विचार बढ़ा रहे हैं। कोई कहते हैं ऐसी अनहोनी बात कि जीव मर जाय और दूसरा शरीर पा जाय, ऐसी अद्भुत बात ईश्वर के बिना और कौन कर सकता है पर यह तो बतावो कि ईश्वर को इस प्रकार बनाते रहने की अभिरुचि लग गयी है या उसकी इयूटी बनी हुई है या उसे ऐसा किए? बिना कोई तकलीफ है या इन जीवों पर उसे दया आयी है, इसलिए कर रहा है? कुछ तो बतावो। और सबसे पहिले ईश्वर का स्वरूप भी निश्चित कर लो, ईश्वर आनन्दमय है या क्लेशमय है। जो क्लेशमय हो वह ईश्वर कैसा? ईश्वर अज्ञानी है या ज्ञानमय? जो अज्ञानी हो वह ईश्वर कैसा? ईश्वर तो पूर्ण शुद्ध ज्ञानमय है और शुद्ध आनन्दमय है। अब जरा निगाह डालो, इस ईश्वर को लोगों का शरीर बना बनाकर चिपकाते रहना, इसकी अभिरुचि है क्या? और वह भी अभिरुचि इतनी कठिन है कि सारी दुनिया का भार रखे, चिन्ता रखे, हिसाब रखे, लेखा-जोखा रखे, इतना बड़ा शौक इच्छा के बिना हो सकता है क्या? कितनी वाञ्छायें, कितने यत्न, फिर दूसरी बात यह कि मान लो ईश्वर ने ही शरीर बना दिया, पर असत् का सत् बनाया या सत् का रूपान्तर किया? असत् को सत् बनाया, इसे मानने को तो कोई तैयार न होगा। कुछ भी न हो और बन गया वह तो नजरबन्दी है, कुछ बात ही नहीं है, और सत् का रूपान्तर किया तो इतना तो सिद्ध हो गया कि चीज थी, उसका रूपान्तर हुआ, भले ही कारण ईश्वर को मान लो। उत्तम तो यह है कि ईश्वर को आराधनीय रूप में रखना चाहिए जिससे हम प्रभु की शक्ति का स्मरण करके, स्वभाव की उपासना कर के अपने परिणामों को निर्मल बनाये।

जीवफलोपभोग की कर्मानुसारिता—हम सब जीवों का शरीर बनाते रहना यदि प्रभु की इयूटी कह दी जाय तब तो उस ईश्वर

को भी पद-पद पर खेद अनुभव करना पड़ेगा। फिर आनंदमयता कहाँ रही? यदि जीवों पर दया करके ऐसा किया करते हैं तो फिर दया ही दया क्यों नहीं करते? दया करने वाले का तो दया का साधारणतया स्वभाव होता है। घर में कुपूत पैदा हो जाय तो उसे कोई कुवें में ढकेल देता है क्या? मान लो लोग पापी हो गए तो ईश्वर को तो नरक में न ढकेलना चाहिए, उसे तो दया ही करना चाहिए जब दया का ही स्वभाव है। आप कहें कि नहीं कर सकते दया तो यह तो उनकी कमज़ोरी मानना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जो मनुष्य जैसे कर्म करता है उस ही प्रकार का उसे ईश्वर फल दे सकता है। तो मूल बात तो यही रही ना कि जो जीव जैसे कर्म करता है यह उस प्रकार का फल पाता है। अब उसका विधिविधान बनाने में ही विवाद रह गया, मूल बात में तो विवाद नहीं रहा। शरीररचना का कारण व कर्म का स्वरूप होती कैसे है शरीर की रचना एक शरीर छूटने के बाद? उसका समाधान यह है कि यह जीव जैसे परिणाम करता है उस परिणाम का निमित्त पाकर इसके कर्म बँधते रहते हैं। वे कर्म क्या चीज़ हैं, इस सम्बंध में स्पष्ट निर्णय तो किसी ने बताया नहीं। कोई कहेगा तकदीर है, कोई कहेगा कि माथे की हड्डी में लिखा रहता है। क्या भाग्य है, किसका नाम तकदीर है, कर्म क्या है, स्पष्ट निर्णय किसीने नहीं बताया। जैनशासन में यह कहा है कि कार्माणवर्गणा नामक सूक्ष्म पुद्गल होते हैं, उन पुद्गलों का इस जीव के साथ सम्बंध बन जाता है, उनका ही नाम कर्म है। जीव की तरह ये पुद्गल कर्म भी किसी से रुकते नहीं हैं। यद्यपि जीव अमूर्त है और वह अमूर्तता के कारण पहाड़, बन आदिक से रुकता नहीं है, और कर्म यद्यपि मूर्त हैं, किन्तु इन्हें सूक्ष्म हैं कि ये बज पर्वत आदिक से आड़े आने पर रुकते नहीं हैं। ऐसा सूक्ष्म कार्माण जाति का द्रव्य है और इसका रंग भी सफेद है। हालांकि कर्म आँखों नहीं दिख सकते, पर संतों की, प्रभु की परम्परा से जो आगम चला आ रहा है उसमें बताया है कि कर्म श्वेत होते हैं, युक्ति से भी देख लो। जो अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म चीज़ होगी, विज्ञान भी सम्भव बताता होगा कि अत्यंत सूक्ष्म चीज़ का रंग प्रकृत्या श्वेत हुआ करता है। श्वेत रंग स्थूल होता है, तो ऐसी ये कार्माणवर्गणायें इस जीव के साथ बँध जाती हैं और ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि उन कार्माणवर्गणाओं में जैसा फल देने के निमित्त की प्रकृति रहती है और जितने दिनों तक ठहरने की स्थिति रहती है और जितने अनुपात में फल देने का निमित्तपना रहता है, वे सब बातें शरीररचना, रागद्वेषादिक जब उनका निकलना होता है जीव से तब होने लगती हैं।

कर्मप्रकृतियों की विभिन्नतायें—निकलने का नाम उदय है। कर्म बँध गये, पर जब तक स्थिति में हैं तब तक उनका फल नहीं मिलता, किन्तु जब वे निकलने के सम्मुख होते हैं, उदय होता है तब उनका फल प्राप्त होता है। वह है उनका विपाककाल। तो ऐसी-ऐसी कर्मप्रकृतियाँ असंख्यात प्रकार की होती हैं। जिन-जिन जीवों का जिस-जिस ढंग का शरीर है उस-उस ढंग की प्रकृतियों का उदय है। किसी का लम्बा हाथ है तो किसी का छोटा हाथ है, किसी का सांवला रूप है, किसी का गोरा है, किसी के शरीर में दुर्गन्ध है तो किसी के शरीर में दुर्गंध कम है कितने आकार का है, कितने ढंग का है, शरीरों में कितनी विभिन्नता है? केवल एक नाक की ही बात लें लो। चेहरे पर नाक लगी है, साधारणतया यह तीन अंगुल की नाक सब पर लगी है और एकसा ही सबका ढंग है। इस नाक में ही देख लो कितनी विभिन्नताएँ हैं? कोई खास बात तो नहीं है मगर अरब आदमी होंगे मान लो दुनिया में दिखने वाले, सबकी नाक देख लो किसी की नाक किसी से मिलती है क्या? और बात एकसी है। यह तीन साढ़े तीन अंगुल की नाक और आँखों के बीच से निकलना, दो छिद्र रहना सारी चीजें वही की वही हैं, फिर भी किसी की नाक से किसी की नाक न मिलेगी। जब एक नाक में ही अरबों ढंग हो गए तो शरीर के अंग-अंग में जितनी विभिन्नता है और अन्य भावों में भी जितनी विभिन्नताएँ हैं उतनी ही प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ हैं। उनके उदय का निमित्त पाकर ये सकल सृष्टियाँ हुआ करती हैं।

कर्मों का विविध निमित्तपना—कर्मप्रकृतियाँ कोई तो शरीर के रखे जाने में निमित्त बनती हैं, कोई कर्मप्रकृतियाँ इस शरीर को जीव आचरण से सहित इस भव का ऊँचा और नीचा प्रसिद्ध करने में कारण बनती हैं। कुछ कर्मप्रकृतियाँ जीव के ज्ञान के

आवरण का काम करती हैं, जिससे एक ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से समान होने पर भी जीवों में यह भेद देखा जा रहा है, कोई कम ज्ञानी है, कोई अधिक ज्ञानी है। कुछ कर्मप्रकृतियाँ इस जीव को अंतरङ्ग के मालूमात न करने में कारण बनती हैं अर्थात् दर्शन नहीं होने देती हैं। कुछ कर्मप्रकृतियाँ नाना प्रकार के सुख और दुख का अनुभव कराने में कारण हैं। ये केवल शरीर की रचना की ही कारण हों, इतना ही नहीं है। मान लो जीव का शरीर रचा गया तो इतने से क्या होता है? दो तो मिट्टी का खिलौना बन गया, पर और-और भी बातें इसके साथ हैं ना। कुछ कर्मप्रकृतियाँ ऐसी होती हैं जो जीव को सही रास्ता नहीं मालूम करने देती और सही दरास्ते पर चलने नहीं देती। यह सब निमित्त दृष्टि से, कथन किया जा रहा है। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो इस जीव को शरीर में रोके रहती हैं, जा नहीं सकता यह जीव शरीर के बाहर जब तक उसका सम्पर्क है। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी भी हैं जो जीव को मनचाही बात होने में विघ्न उत्पन्न कराया करती हैं। ऐसे ही कर्मों का जाल इस जीव के साथ लगा है। वे कर्मप्रकृतियाँ इस जीव की विभिन्न रचना का कारण बनती हैं।

नैमित्तिक देह में विधि की निमित्तता पर दृष्टान्त—प्रकृतियाँ देहादि सृष्टि की कारण कैसे बनती हैं, इसे कुछ दिखाकर तो नहीं बताया जा सकता, पर ऐसा स्पष्ट तो आप कुछ भी नहीं बता सकते कि कैसे यह काम हो रहा है? जो कुछ आप कहेंगे वह मूलरूप में कहेंगे। आग पर रोटी धर दिया, सिक गयी, हम पूछते हैं बतावो प्रतिसमय की बात कि रोटी कैसे सिक रही है? अरे आग नीचे है, रोटी ऊपर है और सिक रही है सो देख लो, मुक्ति से समझ लो, आगम से समझ लो। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि कोई ऐसी चीज इस जीव के साथ लगी है जिस कारण से इस जीव की विभिन्न दशाएँ बनती हैं, इसमें बाधा आती हो तो बतावो। किसी भी पदार्थ में विपरीत परिणमन क्या उस ही पदार्थ के कारण हो सकता है? नहीं हो सकता है। खुद ही पदार्थ खुद का बिगाड़ करने में असमर्थ है, अपने ही निमित्त और अपने ही उपादान से। क्या पानी अपने पानी के ही कारण अग्नि सूर्य आदिक का सम्बंध पाये बिना गर्म हो जाता है, खौल, जाता है? गर्म स्रोत भी निकलते हैं जैसे राजगृही में निकल रहे हैं तो वहाँ आग नहीं है, सूर्य नहीं है, मगर कोई चीज साथ है, कोई उस प्रकार का द्रव्य पास में लगा हुआ है, गंधक है या अन्य कुछ है। यह एक दृष्टान्त दिया है, पानी कोई द्रव्य नहीं है, पर एक मूल दृष्टान्त है।

जीव में असदुत्पत्ति व सदुच्छेद का कारण उपाधि—कोई पदार्थ अपने ही स्वभाव से अपने आपमें उपाधिसन्निधान बिना विपरीत परिणमन नहीं करता। यद्यपि विपरीत परिणमन करने वाला स्वयं है, किन्तु परउपाधि का सम्बंध पाकर ही विपरीत परिणमन कर पाता है, इतना तो सुनिश्चित हुआ ना। इस जीव के साथ कोई परउपाधि लगी है जिसका निमित्त पाक जीव नारक, तिर्यज्व, मनुष्य, देव, क्रोधी, मानी आदिक बन रहे हैं। विकार की बात जीव के स्वभाव में नहीं है, उस रूप भी परिणमे विकारी बन-बनकर तो उसमें, जानना चाहिए कि कोई परउपाधि का सम्बंध है। वह परउपाधि क्या है कर्म नाम रख लो। कर्म नाम रखने से चिढ़ हो तो कुछ और नाम रख लो, पर इस मूल बात में तो भंग नहीं किया जा सकता कि परउपाधि के बिना यह जीव नाना विचित्र परिणमता जाय। शरीर नामक नामकर्म की प्रकृतियाँ भी असंख्यात प्रकार की हैं। उनका उदयकाल आने पर ये सब बातें बनती रहती हैं। तो इस जीव में जो न था उसकी उत्पत्ति और जो था उसका विनाश होता है, इसमें निमित्तकारण उपाधि है नामकर्म।

स्वभावविरुद्ध परिणति की उपाधिसन्निधि बिना असंभवता—निश्चय से यह जीव सहजानन्दस्वरूप एक टंकोत्कीर्णवत् ज्ञानस्वभावी है, नित्य परमार्थभूत है, लेकिन जब हम व्यवहारदृष्टि से देखते हैं तो स्वभावदृष्टि से निकलकर हम अगल-बगल की बात देखते हैं तो यह समझ में आ रहा है कि अनादिकाल से ही कर्मदय के वश से अर्थात् उसको निमित्त पाकर यह जीव निर्विकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से गिर गया है। इसे शुद्धस्वरूप की दृष्टि नहीं रही है और इसका नाना भवों कई रूप से उत्पाद व्यय हो रहा है। उसका कारण जीव का ही स्वभाव नहीं है, किन्तु नरकगति आदिक कर्मप्रकृतियाँ हैं। जैसे समुद्र में लहरें हवा के

संयोग के बिना उठती हैं क्या? या समुद्र अपने, आप हवा का सम्बन्ध पाये, बिना क्या स्वयं ही उचकने लगता है? वहाँ तो बह शान्त धीर रहा करता है। उसका स्वभाव ही नहीं है कि कुछ गडबड़ करे। वह तौ जल है और वह जल भी घन है। वह तो स्वभावतः स्थिर रहेगा, किन्तु लहरों का उत्पादव्यय, निस्तरंग भी रहना उत्तरंग भी होना, यह बात हवा के सम्बन्ध और असम्बन्ध से है, ऐसे ही इस जीव में ये सब पर्यायें जो डूबती हैं और उठती हैं पानी की लहर की तरह इसमें विभाव जो डूबते हैं और उठते हैं उसमें कारण कर्मउपाधि है। हां ऐसा डुबना और उठना जो पदार्थ के स्वरूप की रक्षा के लिए हैं अर्थात् अगुरुलघुत्वगुण के ही कारण जो स्वयं में उत्पादव्यय चलता है धर्म आदिक द्रव्यों की तरह उसमें कालातिरिक्त कोई उपाधि नहीं, किन्तु इतना बड़ा जाल बन जाय इसमें कारण तो कोई विकट, पर-उपाधि है।

विभावविधि के अवगम से कर्तव्यशिक्षा—इस विभाव की विधि को जानकर और इस जाल का परिज्ञान करके हम यहाँ कौनसा, सारभूत तत्त्व अपनी दृष्टि में ले, वह देखो कि शुद्ध निश्चयनय से अपने सहजस्वभाव की दृष्टि में जैसे यह कर्मरहित वीतराग परम आनन्द संयुक्त चित्प्रकाशमय जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, चित्प्रकाश है वह चित्स्वभाव ही उपादेय है। हम ऐसे सहज स्वभावरूप चित्प्रकाश का आलम्बन करें, उसको ज्ञान में लेकर एतावन्मात्र में हूँ, इस प्रकार को प्रतीति कर के हम सुख दुःख रहित विशुद्ध आनन्द पर्याय को प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी परपदार्थ पर गयी हुई दृष्टि इस जीव को विह्वल कर देती है। हम अपने आप में विभाव की पकड़ न कर के एक शुद्ध ज्ञानमात्र स्वभाव को दृष्टि में लें और एतावन्मात्र ही मैं हूँ, ऐसी प्रतीति बनायें तो यह चारों गतियों के परिप्रेक्षण का जाल नष्ट हो जायगा और अपने आप इस आत्मा का जैसा स्वरूप है वही प्रकट हो जायगा। यही ईश्वरता है, ईश्वर का यही शुद्धरूप है, इसमें ही परम आनन्द है। हम आपका मूल में यही कर्तव्य है कि अपने आपको चित्स्वभावमात्र अनुभव में लिया करें।

उदयेण उवसमेण य खयेण हुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे ।

जुत्ता ते जीवगुणा वहसु य अथेसु विच्छिण्णा ॥५६॥

औदयिक, औपशमिक और क्षयोपशम और परिणाम—इन ५ प्रकार के भागों से सहित हैं। उदय नाम है कर्म का निकलना। कर्म जब तक बन्धन में रहते हैं, सत्त्व में रहते हैं तब तक उन कर्मों का विपाक भोगने में नहीं आता, किन्तु उदय होते समय इस जीव में एक प्रभाव उत्पन्न होता है बह है जीव का ही प्रभाव। पर कर्मों के उदय का निमित्त पाकर यह प्रभाव उत्पन्न होता है। कर्मों का फलदान में समर्थ होने के रूप से उसकी उद्भूति न हो उसका नाम हैं उपशम। ये कर्म अपनी आखिरी स्थिति से पहिले उदय में न आ सकें इसका नाम है उपशम। आखिरी स्थिति से पहिले उदय में आने का नाम उदीरणा है। उदीरणा न हो स के इसका नाम है उपशम। उन कर्मों का फल देने की समर्थता के रूप से कुछ उद्भूति होना और कुछ अनुद्भूति होना इसका नाम है क्षयोपशम। क्षयोपशम में कितनी हो प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं, लेकिन उन सब परिस्थितियों का प्रयोजन इतना ही है कि कुछ गंदगी रहना, कुछ निर्मलता रहना। ऐसा जो मिश्रित भाव है उसका नाम क्षयोपशम भाव है।

एक ही प्रकृति में क्षयोपशम—जैसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण—इन चारों के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान प्रकट होते हैं। वहाँ क्षयोपशम का अर्थ यह है कि जैसे मतिज्ञान में २ प्रकार के स्पर्धक हैं—सर्वघातीस्पर्धक और देशघाती स्पर्धक। स्पर्धक नाम है वर्गणाओं के समूह का। तो कुछ स्पर्धक, मतिज्ञान में ऐसे हैं, जो मतिज्ञान का अभाव कर देने के लिए समर्थ हैं, और साथ में देशघाती प्रकृतियाँ भी हैं जो मतिज्ञान का सर्वथा घात नहीं कर सकती, किन्तु कुछ प्रकट रहेगा, तो वहाँ सर्वघाती स्पर्धकों का उदयभावी क्षय रहता है और आगामी काल में जो उदय में

आ सके, ऐसा सर्वधाती स्पर्धकों का उपशम रहता है और देशधाती का उदय रहता है, ऐसी स्थिति में मतिज्ञान प्रकट होता है। यह मतिज्ञान, चूंकि देशधाती का उदय है इस कारण तो मलिन है और क्षय व उपशम सर्वधाती का है इससे प्रकाशित भी है। यहाँ क्षय का नाम उदयाभावी क्षय है। देखिये जीव की महिमा, ये सर्वधाती स्पर्धक पड़े तो हैं, पर जब मतिज्ञान हो रहा है तो यह सर्वधाती स्पर्धक की तरह हो गए। जो हैं उनका उदयाभावी क्षय हुआ और उपशम हो गया। ही उससमय में अवधिज्ञानावरण के सर्वधाती स्पर्धक का उदय है। जिसके अवधिज्ञान नहीं है तो उसके अवधिज्ञान का पूरा लोप है, पर संसार अवस्था में कोई ऐसी नहीं है जिसके मतिज्ञान का लेप हो। मति और श्रुतज्ञान ये समस्त संसारी जीवों के होते हैं तो यहाँ क्षयोपशम का यह लक्षण बना कि उस ही प्रकृति में सर्वधाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उनका ही उपशम और देशधाती का उदय है।

एक ही कर्म में क्षयोपशम—जहाँ यह बताया जाता कि अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से श्रावकों को बस- उत्पन्न होता है वहाँ यह एक ही प्रकृति के क्षय उपशम उदय वाला लक्षण नहीं घटित होता, क्योंकि, अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति में सर्वधाती स्पर्धक और देशधाती स्पर्धक के विभाग जैसा कार्य नहीं है। वहाँ क्षयोपशम का लक्षण यह है कि अप्रत्याख्यानावरण का उदयाभावी क्षय और उपशम तथा प्रत्याख्यानावरण का उदय ऐसी स्थिति से श्रावक का ब्रत उत्पन्न होता है। यद्यपि प्रत्याख्यानावरण का सर्वधाती प्रकट है, लेकिन श्रावकों के ब्रत के लिए तो वह सर्वधाती नहीं है। वह मुनिव्रत न होने देने के लिए सर्वधाती प्रकृति है। तो किसी भी परिस्थिति से क्षयोपशम बने, पर क्षयोपशम की ये दो बातें एक साथ मिली हुई हो तो हैं, कुछ मलिनता कुछ निर्मलता।

क्षायिकभाव—कर्मों का अत्यंत वियोग हो जाना, मिट जाना, अलग हो जाना, इसका नाम क्षय है। किसी भी प्रकृति का क्षय होता है तो उस प्रकृति के अनुभाग और स्थिति का खण्डन कर के अन्त में क्षय होता है। किसी प्रकृति का यों क्षय नहीं हो जाता कि पहिले से उसमें से कुछ भी छांट न की जाय और किसी समय एकदम वह प्रकृति विलीन हो जाये। पहिले निर्मल परिणामों के कारण उस प्रकृति के अनुभाग के खण्ड नष्ट किए जाते हैं और स्थितियां नष्ट की जाती हैं। जो उनकी विधि है, संक्रमण पूर्वक भी उनका विनाश होता है, पर उस विनाश का नाम क्षय नहीं है, उसका नाम है निर्जरा। एकदेश कर्म का क्षय होने का नाम निर्जरा है और सर्वदेश कर्म का क्षय होने का नाम क्षय है, अभाव है। जब सब कर्मों का क्षय होता है तो इतना तो कहोगे ना कि इन कर्मों से मुक्ति हो गयी। जैसे चतुर्थ गुणस्थान में भी क्षायिक सम्यक्त्व हो तो यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि हम जीवों के दर्शनमोहनीय कर्म की मुक्ति हो गयी। उसे मोक्षअवस्था इसलिए न कहेंगे कि सर्वकर्मों के क्षय का नाम मोक्ष है। तो ये प्रकृतियाँ क्षीण होती हुई इनका अनुभाग नष्ट करते-करते स्थितियों को भी काटते-काटते अन्त में जब गुण संक्रमण और सर्वसंक्रमण होता है, अंतिम कालिका भी, विनाश हो जाय तब क्षय नाम कहलाता है। तो प्रकृति का सदा के लिए अत्यन्त विप्रयोग हो जाना इसका नाम क्षय है।

परिणामिक भाव—परिणाम नाम है द्रव्य के स्वरूप के लाभ का कारणभूत जो भाव है उसका नाम। सहज स्वभाव के कारण तो वस्तु की सत्ता बनी हुई होती है वह परिणाम सर्वथा अपरिणामी नहीं है किन्तु अपरिणामी धर्म को निरखकर देखने से अपरिणामी ज्ञात होता है। वस्तु स्वभावमात्र है और स्वभाव यदि सर्वथा अपरिणामी हो तो इसका अर्थ है वस्तु अपरिणामी हो तब वस्तु का अभाव हो जायगा, पर इस परिणाम को हम एक शाश्वत और सहजरूप में निरखते हैं तो ऐसे निरखने में अपरिणामीपना देखा जाता है। तो जो जीवद्रव्य के स्वरूप के लाभ का कारणभूत भाव है उसको जीव का पारिणामिक भाव कहते हैं। ये ५ प्रकार की स्थितियाँ जीव में होती हैं।

उदय और मोहमद—उदय से संयुक्त जो भाव है उसका नाम औदयिक है। उदय से उत्पन्न हुए भाव को औदयिक भाव कहते हैं। विषयों के परिणाम, कषयों के परिणाम थे सब औदयिक भाव हैं। इन औदयिक भावों के कारण जीव की कितनी बरबादी

हो रही है, फिर भी यह मोही जीव उन औदयिक भावों को ऐसे प्यार से पकड़ता है कि यह अपनी सत्ता को सुध भी नहीं कर सकता और उसकी दृष्टि में जो अंतः उठा हुआ औदयिक भाव है तन्मात्र ही वह अपने आत्मा का श्रद्धान किया करता है। जो यों राग करने बाला है, द्वेष करने वाला है के कुछ यह है यही तो हैं हैं, मैं रागद्वेष से भिन्न केवल सहज ज्ञानप्रकाशमात्र हैं इसकी सुध नहीं होती है। यही! मदिरापान है। यह जीव अनादिकाल से ऐसा ही महा मद पीकर मतवाला होता चला आ रहा है और जब जिस भव में पहुंचता है उस भव में जो समागम मिलता है वही इसके लिए सब कुछ हो जाता है। उसके आगे उसके पीछे कहीं चारों ओर कहीं भी कुछ नजर नहीं आता। केवल वे ही दो चार जीव इसके सर्वस्व बन जाते हैं। मरेंगे, पर्वेंगे तो उनके लिए, अन्य जीवों के प्रति तो मानो इनमें जान है या कुछ नहीं, यों ही अनध्यवसाय-सा रहा करता है।

मोहम्हामदपान से बरबादी और कुटेव—मोहम्हामद पीकर यह जीव कैसे-कैसे भ्रमण कर रहा है? ऐसी-ऐसी स्थितियाँ भी मिल जाती हैं जहाँ ज्ञान का कुछ? नाम सा भी नहीं जंचता। स्थावर जीव, निगोद जीव, दोइन्द्रिय आदिक जीवों की क्या स्थिति है? हम आप भी तो इन स्थितियों में गये होंगे और न चेते तो इन कुयोनियों में अब जायेंगे। यह मोही जीव हठी बनता है तो मोह में ही तो हठी बनता है, पर यह अपने स्वरूप की हठ नहीं बना सकता। बाह्यपदार्थों में ऐसा होना ही चाहिए, इसको इस तरह कहना ही चाहिए, पालना ही चाहिए, करना ही चाहिए। न कहे, न करे तो उस पर छा जाता हैं हठ करता है। किसी भी पदार्थ में कुछ भी परिणमन करने के लिए यह जीव आग्रही हुआ करता है। परंतु मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ ऐसी सच्ची समझ के लिए यह आग्रह नहीं करता है। बाहरी-बाहरी विकल्पों के लिए इसके बड़े-बड़े आग्रह चलते हैं। जो कर्मों के उदय का निमित्त पाकर भाव उत्पन्न हुए हैं उनका नाम औदयिक भाव है।

अज्ञानी की औदयिक भाव में आस्था—इन औदयिक भावों का अज्ञानी जीव को बहुत विश्वास बना हुआ है। इतना विश्वास कि उसके मुकाबले में इसे गुरुवचन पर विश्वास नहीं है। ये शास्त्र, ये गुरुवचन बारबार समझाते हैं तू यथार्थस्वरूप की परख कर, उस ओर तू दृष्टि बना, वहाँ तुझे अद्भुत आनन्द प्रकट होगा, यह बात सुन ली जाती है और चूँकि लोक में ऐसा व्यवहार चल रहा है कि धर्म की बात यदि कहे सुने तो उसमें बढ़प्पन सावित होता है। उस बढ़प्पन को रखने के लिए धर्म के नाम पर ये चर्चाएँ भी कर ली जाती हैं और सुन ली जाती हैं, किन्तु विश्वास बना है उस औदयिक भाव पर और यह चर्चा, ये धर्मक्रिया की बातें ये सब मानसिक सुख बनाने के लिए की जाती हैं। जिस क्षण इस जीव को औदयिक भाव पर हितकारिता का विश्वास न रहे और अन्तरङ्ग रुचि से देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान जगे; देव, शास्त्र, गुरु के स्वरूप पर पद्धति पर इसका श्रद्धान चले तो समझना चाहिए कि उस क्षण से इसके जीवन में प्रकाश उत्पन्न हुआ है। यही एक काम इस दुर्लभ मनुष्यजीवन को पाकर करने का है। बाहरी बातों में क्या रक्खा है?

समागम के लगाव की व्यर्थता—भैया! जो औदयिक भाव हैं उन पर ही इस मोही का विश्वास हो इतना ही नहीं है किन्तु औदयिक जो बाह्य समागम हैं, धन वैभव जड़ सम्पदा उन समागमों पर भी इसे बहुत विश्वास है। यह मनुष्य अपने इस जीवन से जीकर और बड़ी-बड़ी सम्पदा इकट्ठी करके आखिर अन्त में करेगा क्या? शायद कोई यह कहे कि करेंगे क्या, अपने बच्चों के लिए सब छोड़ जायेंगे और वे बड़े आनन्द से रहेंगे। अरे गुजर जाने के बाद तुम्हारे फिर कौन बच्चे हैं? अनन्तानन्त जीव हैं, उनमें ही अब शुमार हैं वे सब। जैसे और हैं तै से ही ये रहेंगे। इस जीव को अपने आपके भावों पर जो आत्मलाभ का हेतुभूत है उस पर श्रद्धान नहीं है। कर्तव्य यह है कि हम ऐसा ज्ञान बनाएँ, ऐसा सत्संग करें, ऐसा अपना व्यवहार बनाये, अपनी न्याय को वृत्ति रखें, सदाचार का आदर करें। शुद्धदृष्टि के लिए उत्सुकता जगे, जिससे हमें औदयिक भावों के श्रद्धानरूप महाबन्धन से छूट जाये और अपने स्वरूप की ओर आ सके।

औपशमिकभाव का संक्षिप्त विवरण—जो कर्मों के उपशम से युक्त भाव है उस भाव का नाम औपशमिक भाव है। कर्मों के ठहरने का जो काल है उस काल से पहिले ये कर्म उदीरण रूप में आ सके उसी का नाम उपशम है। यह उपशम आत्मा के निर्मल परिणामों से उत्पन्न होता है। कोई कर्म आगे उदय में आने को थे, उसे उदय में ला दे यह तो जीव के बिंगड़ के लिए बात है ना? ऐसा न करने दे, न होने दे, इस बात के लिए आत्मा में निर्मल परिणामों की आवश्यकता है और उस आत्मनिर्मलता के कारण कर्मों में यह परिस्थिति आ जाती है कि बह कर्म काल से पहिले विपाक में नहीं आ सकता। इस ही का नाम उपशम है और उस उपशम से युक्त जो परिणाम है उस उपशम का निमित्त पाकर जीव में जो परिणाम हो उसका नाम औपशमिक है। औपशमिक भाव दो प्रकार के होते हैं, एक उपशम सम्यक्त्व और दूसरा उपशम चारित्र। उपशम सम्यक्त्व तो चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक रहता है और उपशमसम्यक्त्व का जो द्वितीय भेद है द्वितीयोपशम उसकी उपेक्षा ११वें गुणस्थान तक रहता है और उपशम चारित्र पूर्णतया ११वें गुणस्थान में प्रकट होता है। आंशिक रूप से ९वें और १०वें में प्रकट होता है। ८वें गुणस्थान में भी उपशम की तैयारी में औपशमिक चारित्र की दृष्टि से औपशमिक भाव कहा है।

उपशम का वर्तमान और भावी आश्चर्य—जीव के ये परिणाम हैं, किस-किस जीव में क्या-क्या स्थितियाँ गुजरती हैं, अपनी ही बात इसमें कही जा रही है। औपशमिक सम्यक्त्व में सम्यग्दर्शन निर्मल रहता है, क्योंकि सम्यक्त्व के घाती जों ७ प्रकृतियों हैं—अनंतानुबंधीक्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इन ७ प्रकृतियों का उपशम है और वह उपशम भी अन्तरकरणपूर्वक है, यह उसकी खास विशेषता है। जैसे किसी वकील की यह इच्छा है कि भादों की दसलाक्षणी में हमें कचहरी न जाना पड़े तो उसके लिए वह एक महीना पहिले से ही यह उद्यम करता है कि उन दिनों में कोई तारीख पड़े तो जज से कहकर कोशिश कर के उस तारीख का दिन पहिले या बाद में लगवा देता है। और कभी पहिले से दस लाक्षणी में लगी हुई तारीख हो तो उसे पहिले या आगे करा देता है। दसलाक्षणी के दिनों में वह तारीख ही न हो कचहरी जाने की। इसी तरह यहाँ जिस काल में औपशमिक भाव रहेगा उस काल में जो पड़ी हुई कर्म स्थितियाँ हैं उन स्थितियों की कुछ पहिले डाल देता है, कुछ आगे के काल में डाल देता है, उतने काल का सत्व तक भी नहीं रहता है। जिस समय में औपशमिक भाव हो रहा है औपशमिक सम्यक्त्व, उस समय दर्शनमोहनीय अनन्तानुबंधी का सत्व तक भी नहीं है। औपशमिक चारित्र में भी चारित्रमोह के अन्तरकरणपूर्वक चारित्रमोह का उपशम हो जाता है। इतना निर्मल परिणाम है यह। लेकिन कर्मों का उपशम करके बना है तो जब उपशम काल समाप्त हो जाता है तब इसे उसी चक्र में फिर जाना पड़ता है। यह आत्मा अपनी निर्मलता के कारण इतनी भी अच्छी स्थिति पा लेता है और फिर गिर जाता है।

क्षायोपशमिक, क्षायिक व परिणामिक भाव की व्याख्या—कर्मों के क्षयोपशम का निमित्त पाकर जो आत्मा में भाव होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसमें कुछ निर्मलता है, कुछ मलिनता है। यह क्षायोपशमिक भाव प्रत्येक संसारी जीवों के पाया जाता है। जैसे कोई संसारी ऐसा नहीं है, जिसके उदय बिल्कुल नहीं, रहे, इसी तरह कोई संसारी जीव क्षायोपशमिक भाव बिना भी नहीं रहता। औपशमिक भाव किसी में होता और किसी में नहीं होता। कोई बिरला ही जीव अनन्तवें भाग का ऐसा है जो औपशमिक भाव पा लेता है। औपशमिकभाव बिना अनन्तानंत संसारी जीव पड़े हुए हैं। कर्मों के क्षय से युक्त परिणाम का नामक दायिक है अथवा कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर जो जीव में भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है, ऐसे ही दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन प्रकट होता है, जितने भी अरहंत भगवान के परिणमन हैं वे सब क्षायिक भाव हैं। क्षायिक भाव प्रकट होने के बाद तो अनन्तकाल तक ये परमात्मा ही रहेंगे। परिणामिक भाव कहते हैं परिणाम से सहित भाव को अथवा कर्मों के उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा न रखकर केवल जीवद्रव्य में आत्मलाभ का हेतुभूत

जो भाव है उसका नाम पारिणामिक भाव है ।

भावर्णन का उपसंहार व उपादेयता की शिक्षा—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व, पारिणामिक—ये 5 जीव के गुण हैं । इन 5 गुणों में चार तो उपाधि निमित्तक हैं । औदयिकभाव हैं तो कर्मों के उदय का निमित्त पाकर होते हैं । औपशमिक भाव कर्मों के उपशम का निमित्त पाकर होते हैं । क्षायिकभाव भी कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर होता है और क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से होता है । यद्यपि क्षायिकभाव निर्मल है और सद्ग्रावरूप निमित्त से नहीं होता, लेकिन इस भाव में जो क्षायिकता होता है वह नैमित्तिक है । इसमें चार परिणाम तो उपाधिनिबंधनक हैं, किन्तु स्वभावनिबंधनक परिणाम केवल एक है और बहू है पारिणामिक भाव । आत्मा में आत्मा के ही सत्त्व के कारण जो सहजस्वभाव है उसका नाम- पारिणामिक भाव है । इन 5 प्रकार के परिणामों में से जो पूर्व के चार गुण हैं वे तो और-और भी भावों को लिए हुए हैं । स्वरूप भाव से और उपाधि भाव से इन 5 में भी अन्तर है; पर उन चार के और भी प्रभेद होते हैं । पारिणामिक भाव एक स्वरूप है । वह केवल एक सहज स्वभाव का संकेत करता है । सहज स्वभाव में कोई भेद नहीं पड़ता । वह भेदरहित है । इस प्रकार इस कर्तृत्व के अन्तराधिकार में भाव का वर्णन किया और चूंकि आगे कर्तापन बतायेंगे उसमें इन भावों की जानकारी करने से कर्तृत्व का विवरण समझ में आवेगा । इस कारण यहाँ इन भावों का वर्णन किया है । अब आगे की गाथा में कर्तृत्व का स्पष्ट विवरण आयगा ।

कर्म्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।

सो तेण तस्स कत्ता हवदिति य सासणे पढिदं ॥५७॥

व्यवहारनय से जीव का कर्तृत्व व भोक्तृत्व—उदय में आये हुए द्रव्यकर्म का अनुभवन कराने वाला यह जीव जैसे अपने परिणाम को करता है उस ही प्रकार का यह आत्मा कर्ता होता है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान के शासन में तत्त्ववेदियों ने बताया है । किसी परपदार्थ के निमित्त से इस जीव में कुछ अनुभवन बने अथवा किसी परपदार्थ का आश्रय करके, विषय कर के जीव में कुछ अनुभवन बने तो पर का कर्म का अनुभवन कर्ता यह जीव है, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है । निश्चय से तो जीव अपने आप में उत्पन्न हुए परिणमनों का कर्ता है ! जीव तो इस संसार में निश्चयनय से कर्मजनित रागादिक भावों का ही कर्ता है । चूंकि यह रागादिक भाव स्वयं अपने आपके सत्त्व के कारण जीव में नहीं हुआ करता है । होता तो अपने ही परिणम में है, किन्तु किसी परपदार्थ को निमित्त पाये बिना यह नहीं हुआ करता है । अतएव व्यवहारनय से ऐसा कहना युक्त ही है कि यह जीव कर्मों के फल को भोगता है ।

कर्मबन्ध और कर्मफल—जीव जिस प्रकार का भाव करता है और उस भाव से जिस प्रकार का कर्मबंध हुआ है वह कर्म बंधकर सत्ता में रहता है और जब उसका विपाक काल होता है तब जीव उसके अनुरूप अपने में विभाव करता है । उनका फल पाये बिना निपटारा कर लेना बड़ा कठिन है । भले ही किसी परिस्थिति में पुण्य का उदय विशेष है तो अपनी खोटी करनी असर न दिखाये और कोई यह समझे कि हम यह सब गुस ही तो कर रहे हैं, कोई न्याय, कोई असत्य व्यवहार किया जा रहा है और उसका कोई प्रत्यक्ष फल नहीं मिल रहा बल्कि सम्पदा बढ़ रही, आराम बढ़ रहा आदिक और अभीष्ट फल उसे मिल रहे हैं, लेकिन जो बाँधा है कर्म वे भोगे बिना निर्जीर्ण नहीं होते । कोई विशिष्ट महात्मा संत ही किन्हीं कर्मों को भोगे बिना उसे निर्जीर्ण कर दे ऐसी शक्ति रखते हैं, किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं है । जो करनी की है, जो कर्मबंध किया है उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है ।

देर है अन्धेर नहीं—एक पुरुष के कोई संतान न थी तो उसे किसी ने यों बहका दिया कि देख यदि तू किसी बालक की बलि कर दे तो तेरे बालक हो जायगा । उसने कोई अवसर पाकर किसी बालक की बलि कर दी । खैर, कुछ दिन उसका उदय ठीक चला, पूर्वकृत कर्म से उसके बालक हो गया, धन वैभव बढ़ गया । एक गांव का बड़ा जमीदारी कहलाने लगा । उसकी गाँव

में बड़ी चला हो गयी। किन्तु कुछ ही समय बाद वह वैभव भी नष्ट हो गया। स्त्री पुत्र सब खत्म हो गए। भिखारी बन गया, अकेला रह गया। अब उसे कुछ बोध जगा कि मैंने बहुत खोटा कार्य किया था, उस बालक की हत्या कर दी थी, उसके दिमाग में उस बात का एक बहुत बड़ा पछतावा हुआ। उसका दिमाग कुछ चिलित-सा हो गया। अब वह दिन रात यही कहता फिरे कि देर है अंधेर नहीं, सिवाय इसके और कुछ न बोले। लोगों ने उसे पागल मान लिया। अथवा कुछ पागल-सा ही समझ लीजिए। यही चिलाता फिर, देर है अंधेर नहीं। उस शहर का जो सुबेदार प्रधान पुरुष था उसके महल के पास से यह कहता हुआ जब कई बार गुजरा तो सुबेदार ने उसे बुलाया। बुद्धिमान था सुबेदार, बड़े आराम से खूब खिला-पिलाकर रखकर ५-६ दिन बाद उसने पूछा कि भाई क्या बात है जो तुम देर है अंधेर नहीं, ऐसा कहते हो? तब उस पुरुष ने सारा हाल कह सुनाया। मैंने एक बालक की बलि की थी अपने को सुखी रखने के लिए। कुछ समय तो सुख से गुजरा, अन्त में बहुत बुरी हालत हो गयी, तो मुझे तो यही जंचा कि कोई पापकर्म करे तो उसका फल अवश्य मिलता है, चाहे देर हो जाय, पर अंधेर नहीं है।

सावधानी का यत्न—जो ओज थोड़ीसी सम्पदा की तृष्णा में और अन्य प्रकार के स्वार्थों में या विषयसाधनों में जैसा चाहे बर्ताव किए जा रहे हैं, दगा देना, झूठ बोलना, झूठ लिखना, कुछ कहना, कुछ सोचना, कुछ बताना, अनेक प्रकार के मायाचार अनेक व्यवहार किये जाते हैं किन्तु यह समझ से ओझल न करना चाहिए कि जो भी हम करते हैं उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। ऐसा निर्णय रखें और अपने को सावधान बनायें कि खोटी परिणतियों में अपना उपयोग न फंसे। सम्यग्दर्शन जागृत रखें। मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप सबसे न्यारा ज्ञानमात्र है, वही मैं हूँ और ऐसा ही अपने को निरखने से अपना कल्याण है। अपने को रागादिक रूप, अनेक कर्म फलरूप परपदार्थरूप शरीररूप निरखने में कुछ भलाई नहीं है ऐसा अपने को सावधान बनाएँ और ऐसी ही दृष्टि बनाये रखने के लिए हम व्यावहारिक कुछ प्रयत्न करें जिससे इसके विपरीत विषयकषायों का हम पर आक्रमण न हो सके।

कुदेवपूजापिहार की आवश्यकता—देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान् यह तो धर्म में सर्वप्रथम आवश्यक है। जिसे सचे देव का निर्णय नहीं है वह धर्म क्या पालन करेगा? जो रागीद्वेषी अपनों मनचाही चीज देने वाला ऐसा देव का स्वरूप मानता है उसकी धर्म में कहाँ गति है? कुछ मुकदमें की विजय चाहना, धन का लाश चाहना, विवाह चाहना, संतान चाहना, किन्हीं बातों की इच्छा से जिस चाहे रागी देवी देवताओं की मान्यता करना, भूत-प्रेत, व्यन्तर यक्ष इनकी उपासना करना, और की तो बात क्या, इस इच्छा से तीर्थकर का नाम लेकर भी उन्हें पूजना, महावीर जी पूज रहे हैं, अन्य क्षेत्र की वन्दना कर रहे हैं। अरे वन्दना किसकी कर रहे हो? एक खोटा आशय लेकर कोई तीर्थ पर जावे तो वहाँ इस ज्ञानस्वरूपमात्र इस कैवल्यस्वरूप आत्मतत्त्व पर कुछ दृष्टि भी है क्या? मोक्षमार्ग की ओर कुछ दृष्टि भी है क्या? नहीं है तो धर्म कहाँ रहा?

मोहियों द्वारा देव में भी कुदेव की जबर्दस्ती—भैया! चाहे दरिद्रता की भी कितनी ही कठिन स्थिति आये, पर किसी देव से यह बिनती करना कि मुझे अच्छे साधन मिले, मुझे वैभव सम्पदा मिले, इस मालिन आशय को लेकर कोई किसी देव की आराधना करे तो यह उसकी अज्ञानता है। ज्ञानी पुरुष इस आशय से भगवान को नहीं पूजते। भगवान में जो बात है जो स्वरूप है उस स्वरूप को निरखकर ही भगवान को पूजते हैं। किसी के पुण्य का उदय हो तो उसके पुण्य के उदय से मनचाही चीज उसे भगवान की पूजा करने से मिल जाती है। कोई यह कहे कि देखो हमने महावीर स्वामी से अमुक चीज मांगी सो मिल गई, ऐसी बात नहीं है। क्या कोई यह नियम है कि जो भगवान की पूजा करे, आराधना करे, उसके मनचाही चीज उसे प्राप्त ही हो जाय। देखा तो इसका उल्टा भी जा रहा है। जो महावीर स्वामी के विरोधी हैं, जो इस ओर जरा भी चित्त नहीं करते, धर्मैका ओर जिनका चित्त भी नहीं है ऐसे बहुत से लोग व्यवहार में सम्पन्न और आराम बाले निरखे जाते हैं। यह तो पूर्वकृत सुकृत का फल है।

और कभी मनचाही बात न हुई तो महावीर स्वामी में विश्वास भी नहीं रहता। यह तो कुछ नहीं है और कभी मान लो उस मनौती से बालक पैदा हो गया तो यह कहेंगे कि देखो प्रभु ने बालक दिया है और दह मर जाय तो कहते हैं कि देखो अब महावीर जी ने मार डाला है। क्या-क्या विकल्प, क्या-क्या कल्पनाएँ इस जीवन में बना-बनाकर इसको यों ही खोया जा रहा है। और आत्मन् ! तू अकेला है, अकेला ही था, अकेला ही रहेगा। इस समय भी तेरा कोई दूसरा नहीं है। तू अपने इस अकेले चेतन की कुछ भी दया नहीं करता।

निजभाव पर भवितव्य की निर्भरता—अगला काल कैसा व्यतीत होगा? यह सब तेरी कला पर ही निर्भर है। जैसे करीब-करीब शरीर को सुधार लेना, बिगड़ लेना, रोगी बना लेना, निरोग बना लेना, यह अपनी कला पर निर्भर है। यह बात करीब-करीब है, चूँकि शरीर परद्रव्य है। वहाँ कोई नियम नहीं है, अधिकार भी शरीर पर कुछ नहीं है, पर यह बात यहाँ करीब-करीब देखी जाती है, पर मेरा मेरे भवितव्य पर तो पूरा अधिकार है। मेरा जैसा भाव होगा उसके अनुसार ही तो मेरी सृष्टि होगी। हम अपने को सुखी करना चाहें तो सुखी करने की भी हम में ही कला है, दुःखी करना चाहें अर्थात् दुखी होने की पद्धति से चले तो दुःखी होने की कला भी हम में ही है और विशुद्ध आनन्द का अनुभव करने के उपयोग में आयें तो ऐसा अनुभव करने की कला भी हम ही में है। हम अपने आपको सावधान बनाये और सत्य श्रद्धान से चलें।

सच्चा देव—सच्चा देव वही होता है जो निर्दोष है, सकल गुणसम्पन्न है। जिसमें एक भी दोष नहीं है और गुणों का पूर्ण विकास है वही सच्चा देव है। हम ऐसे देव को क्यों पूजे? इसलिए कि ऐसा ही मेरा स्वभाव है, ऐसा ही मैं बन सकता हूँ और ऐसा ही अपना भाव भरने के लिए हम सच्चे देव के स्वरूप पर दृष्टि किया करते, हैं। भगवान को मानने के दोहरी कारण हो सकते हैं—एक तो यह हो सकता है कि भगवान मुझे सुखी कर देगा तो चलो भगवान को माने। एक यह हो सकता है कि भगवान जैसे हम भी बन सकते हैं, इसलिए भगवान के स्वरूप की उपासना कर के अपने गुणों को विकसित कर ले। इन दो बातों में से पहिली बात तो है नहीं, इसका कारण यह है कि कोई भी परद्रव्य किसी परद्रव्य का कुछ करने वाला नहीं हो सकता। वस्तु के स्वरूप में ही यह बात नहीं है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ कर सके। हाँ यह दूसरी बात अवश्य है। प्रभु चेतन हैं, हम भी चेतन हैं, स्वयं की समानता है। हमारे भी दोष कभी कम होते, कभी और भी कम हों, जो उपाधि पाकर हुआ करते हैं और उनमें कभी नजर आये तो निश्चय रक्खो कि उन दोषों का कभी सर्वथा के लिए अभाव भी हो सकता है। और जो उपाधि के दूर होने से कुछ विकास बढ़ता है तो उसमें यह निर्णय रक्खो कि यह विकास कभी पूर्ण भी हो सकता है। जो निर्दोष है और सकल गुणसम्पन्न है वही हमारा देव है, वह चाहे ऋषभदेव हों, चाहे महावीर स्वामी हों, चाहे श्री राम हों, किन्हीं भी शब्दों में कह लो, प्रभु के नाम में, प्रभु की उपासना के प्रसंग में नाम की मान्यता नहीं है, नाम का जिक्र नहीं है, नाम का सम्बन्ध व्यवहार अवस्था से है। हम जब सही स्वरूप में निरखना चाहते हैं प्रभु को तो वहाँ नाम नहीं है। जो निर्दोष हो और सर्वगुणसम्पन्न हो ऐसा प्रभु ही हमारा सच्चा देव है। उसकी श्रद्धा हो।

सत् शास्त्र और सद्गुरु—सच्चे देव के प्रसंग से जो उपदेश हमें प्राप्त होते हैं वे सच्चे शास्त्र हैं। जिसमें निर्दोष होने और गुणसम्पन्न होने की कला लिखी है, उपाय बताया है वही? सच्चा शास्त्र है। और उस उपाय पर जो अपनी शक्ति को न छिपाकर चल रहे हैं, उस मार्ग पर बढ़ रहे हैं, निर्ग्रन्थ, निरारम्भ ज्ञानरत होकर जो इस आत्मतत्त्व के विकास में लग रहे हैं वे हमारे सच्चे गुरु हैं।

कार्यसिद्धि में देव शास्त्र गुरु का आश्रयण—देखो किसी भी काम में सफलता पाने के लिए देव, शास्त्र, गुरु का सहारा लिए बिना काम नहीं चलता। ये धर्म के देव हैं, धर्म के शास्त्र हैं, धर्म के गुरु हैं। संसार के काम भी कोई किए जायें तो उनमें भी

उस काम के देव, उस काम के शास्त्र और उस काम के गुरु-इन तीन का सहारा वहाँ भी लेना होता है। मान लो आप व्यापार में कुशल बनना चाहते हैं तो आपकी दृष्टि किसी न किसी ऐसे व्यक्ति पर जरूर रहती होगी जो कुछ व्यापार में बहुत ऊँचा कार्य करने वाला है और विशेष धनी है। जिसको दृष्टि में लेकर आपके चित्त में यह बात रह सकती है कि मुझे ऐसा बनना है। जैसे धर्मी पुरुष धर्म के देव को दृष्टि में लेकर यह भावना करता है कि मुझे यह देव बनना है। यों ही एक धनार्थी धन के प्रसंग में किसी समृद्धिशाली को अपनी दृष्टि में रख रहा है। जिसका केवल एक सोचना ही सहारा है मुझे ऐसा बनना है और फिर उस प्रकार की विधियां लिखे कागजात पुस्तक अध्ययन वे सब व्यापार या धनसंचय के कर्तव्य में शास्त्र हुए और फिर जिससे रोज काम पड़ सकता है, जो अपने निकट अपने से कुछ बड़े लोग हैं वे उस विषय के गुरु हुए। कोई-सा भी काम करो, देव, शास्त्र, गुरु ये तीन बातें हर काम में आ पड़ती हैं।

भोजनविधि में भी पूर्णसाधक साधनावचन व उस्ताद की आवश्यकता—किसी को रोटी बनाना सीखना है तो उसकी नजर में कोई एक व्यक्ति ऐसा जरूर रहता है जो सबसे बढ़िया रोटी बना लेता है। देखो इस जैसी रोटी बनाना है—यह ध्यान में रहता है। अब किसी की किसी पर निगाह रहे। और फिर वह कैसे रसोई बनाई जाय उसके शब्दों को भी सुनता है—भाई एक घंटा पहिले से आटा गूँथकर रख लो और फिर बनाते समय उसको एक बार मसल लो। उसे बहुत गीला होना चाहिए जो कि पीछे से पुनः गीला करने की जरूरत न पड़े। यों पो लो, यों तवा पर डालो। पहिले पर्त को जल्दी उठा लो, दूसरे पर्त पर कुछ ज्यादा आँच लगना चाहिए, फिर उठाकर दहकती हुई आग पर डाल दो। उसे जल्दी ही पलटते जाओ ताकि कोई छिद्र न हो जाय। किसी छिद्र से हवा निकलने लगे तो उसे चिमटे से दबा दो। जो कुछ बतावेंगे वही उस विषय के शास्त्र हो गए। और वचन भी मिल जायें, व नजर में चाहे रोटी बनती भी देखी हैं कि यों बनती हैं, पर कोई उस समय बनाने की प्रक्रिया न सिखाये तो कैसे वह बनायेगा? तो जो रोटी बनाना सिखाने वाला हुआ वह गुरु हो गया। तो देव, शास्त्र, गुरु के बिना किसी काम में पूरा पड़ता है क्या?

संगीतशिक्षण में संगीत के देव शास्त्र गुरु का आश्रय—किसी को संगीत सीखना है तो संगीत सीखने वाले के चित्त में कोई एक ऐसा व्यक्ति नजर में रहता है कि मुझे ऐसा बनना है, इस प्रकार का बाजा बजाने वाला बनना है, इस तरह का गायन करने वाला बनना है। वह उसके संगीत का देव हुआ और संगीत की विधियां जिन किताबों में लिखी हैं—सारे गा मा पाधा नी सा, सा नी धा पा मा गा रे सा; सरेगा, रेगामा, गामापा, पाधानी, धानीसा आदिक अनेक प्रकार के सरगम स्वरों का और उसमें यह तीव्र से बोलना यह मंद से बोलना इस प्रकार के संकेत लिखे हों, आरोह अवरोह की प्रक्रियाएँ लिखी हों या कोई मुख से बतावे तो वे संगीत के शास्त्र हुए। इतने पर भी मुहल्ले का गाने का सिखाने वाला अवश्य होना चाहिए। उस देव को कहाँ से लायें, शायद जिन्दगीभर भेंट भी न हो सके, काम तो उस्तादों से पड़ेगा, वही उसका गुरु हुआ। तो जरा-जरासी लौकिक बातें भी जब देव, शास्त्र, गुरु के बिना सफल नहीं हो पाती भला तो मोक्ष पाने जैसा इतना महान कार्य और उसे स्वच्छन्दता से पा लें, यह कैसे हो सकता है? मोक्ष तो मोक्ष के ही ढंग से चलकर पाया जा सकता है।

धर्मफलसिद्धि में धर्म के देव शास्त्र गुरु का आलम्बन—धर्म के देव, धर्म के शास्त्र, धर्म के गुरु—इनका शुद्ध श्रद्धान होना आवश्यक है। यह एक पहिली बात धर्मपालन के लिए कही जा रही है। इसके अतिरिक्त अपना आचरण साधारणतया त्याग और उदारता का होना ही चाहिए। विशेष तपश्चरण न कर सके, त्याग न कर सकें, बड़ी उदारता न पी सकें, लेकिन एक साधारण उदारता त्याग तपश्चरण जिसमें मोटे पाप तो न हों, इतनी बात तो होना आवश्यक ही है। यों हम सत्य श्रद्धान और साधारणतया भले चारित्र का पालन कर के हम अपने जीवन में उन्नति के लिए बढ़े। जो हम करते हैं उसका परिणाम हमें अवश्य भोगना पड़ेगा।

हम भले कार्य करेंगे तो भला फल पायेंगे, बुरे कार्य करेंगे तो बुरा फल पायेंगे। जैसे कर्म करते हैं उसके विपाककाल में उसके अनुरूप फल भोगना होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव के शासन में सभी ने पढ़ा है।

प्राकरणिक शिक्षा—भैया! इन पाये हुए समागमों पर, इन परिजन कुटुम्बीजनों पर मोह मत करो, विश्वास मत करो, इन्हें ही सर्वस्व मत मानो, क्योंकि ऐसा मानने से कुछ सिद्धि न होगी, दुःखी होना पड़ेगा? जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होगा। संयोग के समय में जितना मौज माना गया उससे कई गुण अधिक दुःख वियोग के समय भोगना पड़ेगा। इसलिए सब दशाओं में समान वृत्ति से रहें और अपने यथार्थ श्रद्धान, यथार्थज्ञान, यथार्थ आचरण रखकर अपने इस दुर्लभ नरजीवन को सफल बनाएँ और शक्ति की धारा हमारी वृद्धिगत बनी रहे, ऐसी सावधानी अपनी बर्ते इसमें ही कल्याण हैं, क्योंकि करनी का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। हम शुभ और शुद्ध कार्यों में अपना उपयोग लगाये।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।

खद्यं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥

कृत्रिमता व अकृत्रिमता—द्रव्यकर्म के बिना अर्थात् द्रव्यकर्म की किसी अवस्था का सन्त्रिधान हुए बिना आत्मा का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम भाव नहीं होते हैं, इस कारण इन भावों को कर्मकृत कहा गया है। जीव अपनी सत्ता के कारण अपने आप एक ज्योति-स्वरूप है, प्रतिभासस्वरूप है, और इस प्रतिभास स्वरूपता के कारण स्वयं आनन्दमय है। जब इस प्रतिभा सस्वभाव में उपयोग आता है, तब शान्ति का अम्युदय रहता है। अन्य उपाधि की किसी अवस्था के कारण कुछ नवीन बात जगती है, स्वभाव से विपरीत बात बनती है तो इस जीव के ये भाव कृत्रिम कहलाने लगते हैं। पदार्थ में जो स्वभाव पड़ा है वही बात उसमें जगे वह अकृत्रिम है। जो बात नहीं है वह उत्पन्न हो तो वह कृत्रिम है। तो जीव में एक चैतन्य-स्वभाव तो अकृत्रिम है, शाश्वत है, निरपेक्ष है, अपनी ही गांठ की बात है और औदयिक भाव ये कर्मकृत हैं। ये भाव जीव में जीव के कारण स्वभाव से नहीं होते, कर्म का उदय हुए बिना क्रोधादिक कषायें नहीं जगती, इस कारण ये औदयिक हैं। पराधीन कर्य में अरुचि की प्रकृतिभैया! आप सबकी ऐसी प्रकृति है कि जो बात पराधीन होती है उसमें आप दिल नहीं लगाते, उसकी चाह में अधिकार नहीं समझते और इसी कारण व्यापार आदिक मामलों में आप यह तसली रखा करते हैं कि इस मामले में हम कहीं दूसरे के अधीन फंस तो न जायेंगे? हमारे हाथ के तो नीचे रहेंगे न सब काम? ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है। मेरे अधीन मेरा सब ऐश्वर्य रहे, उसमें आप सन्तोष मानते हैं और जो बात पर के अधीन बन जाय। जैसे बिना लिखापढ़ी करे उसे आप हजार दो हजार रूपये दे दें तो आप अब पर के अधीन हो गए। उसकी मर्जी आये तो बताये कि मैंने लिया, न मर्जी आये तो न बताए। ऐसी भी बात की जा सकती है। आप लिखा लेते हैं अथवा कुछ मुआवजा रख लेते हैं तो सन्तोष करते हैं, अब अपने अधिकार की बात है। भला यह बतलावों कि ये औदयिक भाव, ये विषयकषाय, ये विकार, ये मंसूबे, ये सब आपके अधीन बातें हैं या पराधीन हैं? सब पराधीन बातें हैं। जैसा उदय हो, जैसा भवितव्य हो, सुयोग हो, होता है, आपके अधीन उसमें कुछ नहीं है। लेकिन कोई पराधीन बातों में ही बैठे-बैठे सन्तोष माना करे तो उसे लोग बुद्धिमान नहीं कहते। ऐसे ही इन पराधीन भावों में जो लोग सन्तोष माना करें—मैं बहुत पुण्यवान हूँ, मैं बहुत उत्कृष्ट हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, यों कोई सन्तोष किया करे तो उसे फिर कोई ज्ञानी पुरुष बुद्धिमान कह सकेगा क्या?

कृत्रिमता के सन्तोष का धोखा—ये औदरिक भाव कर्मों के उदय के बिना नहीं हुआ करते। यद्यपि कर्मों का द्रव्यकर्म का गुण, द्रव्यकर्म की पर्याय कुछ भी इस जीव में नहीं पहुंचती है। कर्मों की परिणति और गुणों का कुछ भी इस जीव में सम्बन्ध नहीं है फिर भी ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर इस जीव में ये विषयकषायों के परिणाम हो जाते हैं। इनसे जो अपनी पोजीशन मान लेता हो, उसमें सन्तुष्ट होता हो, वह सब उसके लिए धोखे की बात है। ये भाव कर्मकृत

कहे जाते हैं ।

औपशमिक भाव की कर्मकृतता—इस ही प्रकार जीव में जो औपशमिक भाव हैं अर्थात् विषयकषायों के उत्पन्न करने वाली प्रकृतियों का उपशम होने से जो निर्मलता प्रकट होती है उस निर्मल परिणाम का भी विश्वास नहीं है । वह निर्मलता भी निमित्त दृष्टि से पराधीन है । जब तक कर्मों का उपशम है, कर्म दबा है, तब तक यह निर्मलता है । कर्मों का उपशम दूर हुआ कि निर्मलता नष्ट हो जायगी । यों यह निर्मलता भी पराधीनतायें आ गयी । औपशमिकभाव भी कर्म के उपशम रूप कर्म की अवस्था हुए बिना नहीं हुआ करता है । अतः औपशमिकभाव भी कर्मकृत कहा गया है ।

क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव की कर्मकृतता—कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले परिणाम का नाम क्षायिक भाव है । यह भाव भी चूँकि कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर हुआ है अतएव कर्मकृत है । क्षायिक भाव में जो विकास है और जो विकास चलता रहेगा वह यद्यपि पराधीन नहीं है किन्तु वह भाव कैसे विकसित होता है उसके उत्पाद की विधि पर दृष्टि डालकर निहारने से यह क्षायिक भाव भी कर्मकृत हो गया । कर्म के क्षय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव के कुछ कर्म दब जायें, कुछ कर्म उखड़े रहें ऐसी स्थिति में आत्मा को कुछ निर्मलता है, कुछ मलिनता है, ऐसा जो मिश्रण है वह मिश्रण भी कर्मों के क्षयोपशम का निमित्त पाकर होता है, अतएव यह क्षायोपशमिक भाव भी कर्मकृत हैं, पराधीन है ।

पारिणामिक भाव व स्वभाव की व्यक्ति—केवल एक पारिणामिक भाव अनादिनिधन निरूपाधि और स्वभाविक है । मेरे पारिणामिक भाव का तात्पर्य है—मेरे आत्मा का जो स्वभाव है, शाश्वत भाव है । जिस स्वरूप के कारण मेरा अस्तित्व है वह स्वरूप तो अनादिअनन्त हो कभी प्रकट हुआ हो, कभी नष्ट हो जाय, ऐसी बात इसमें नहीं है । यद्यपि यह क्षायिक भाव परिणामिक भाव का एक शुद्धरूप है । जो पारिणामिक भाव में सामर्थ्य है, शक्ति है, स्वभाव है उसका स्पष्ट व्यक्तरूप है क्षायिक भाव । इस कारण क्षायिक भाव स्वभाव का व्यक्तरूप है और वह अनन्त है, अविनाशी है । शाश्वत रहेगा फिर भी कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ है अतएव क्षायिक भाव को सादि कहा गया है, कर्मकृत कहा गया है । यदि और सूक्ष्मदृष्टि से निहारो तो क्षायिकभाव में प्रथम समय में होने वाला क्षय तो कर्मकृत है, पर द्वितीय आदिक समयों में जो निर्मलता रहती है वह अब निमित्तदृष्टि से कर्मकृत नहीं है । यह तो स्वभाव का व्यक्तरूप है । अब इसे भी कर्मकृत समझें, क्षायिक समझें तो यह पुरानी दृष्टि लेकर समझा जा सकता है ।

जीव की स्वभावव्यक्ति को क्षायिक कहे जाने का कारण—अब क्षायिक कहने का भूतपूर्व कारण यह है कि इस जीव के साथ बहुत-बहुत कर्म बंधे हुए थे, उनका क्षय होने पर ही यह क्षायिक भाव हुआ था अतएव ये सब विकास क्षायिक भाव हैं और कर्मकृत हैं । यह केवल एक उपचार की बात है । कर्मों का क्षय हरदम नहीं होता रहता है । वह तो किसी क्षण हुआ था । जिस क्षण कर्मों का क्षय हुआ था उस क्षण में जो आत्मा का विकास होता है उसे क्षायिक कह लीजिए, किन्तु वह विकास अब आगे भी सदाकाल रहेगा तो उन सब विकासों को कर्मकृत कहो, क्षायिक कहो, कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ कहो तो यह सब भूतपूर्व न्याय से नैगमन्य से कही बात है किन्तु वर्तमान बात नहीं है । सर्व कर्मों से विमुक्त हो जाने के बाद फिर यह आत्मा तो धर्म आदिक द्रव्यों की तरह अपने स्वरूप में शुद्ध निरपेक्ष स्वच्छ परिणमता रहता है । वहाँ कौन उपेक्षा लगाता है? ये सब चूँकि इस जीव ने पहिले अपराध किये थे? उन अपराधों की वजह से अब उनकी वचनकृत अशुद्धता बनाई जा रही है ।

मुक्तिव्यपदेश में गतापराध के स्मरण की सूचकता—किसी मनुष्य को ऐसा कहो कि अब तो तुम जेल से मुक्त हो और वह जेल कभी गया ही न था, तो वह उस बात को सुनकर बुरा मान जाता है । अरे बुरा क्यों मानते हो? तुम जेल से मुक्त हो कि नहीं, अलग हो कि नहीं । कुछ भी हो वह बुरा मान जाता है । जो कभी जेल में गया हो वह भी बुरा मान जाता है । अरे यह मूढ़

यह स्मरण करता है, सब लोगों को यह जता रहा है कि यह जेल में गए हुए थे। ऐसे ही अब सदा ही सिद्ध भगवान को ये मुक्त हैं अथवा इनके क्षायिक भाव हैं, ऐसा कहो तो यह ठोक नहीं है। सिद्ध भगवान कुछ बोलते-चालते नहीं हैं। यदि बोलते-चालते होते तो वे भी खफा होकर यही कहते कि तू हमारे भक्त लोगों को यह स्मरण दिला रखा है कि ये भी पहिले पापी थे, कर्मबद्ध थे, अब ये कर्मों से मुक्त हो गए हैं। और जब मुक्त हुए तब के क्षण गुजर गए, तक तो मुक्त कहना, क्षायिक भाव कहना ठीक था। अब तो एक शुद्ध दृष्टि से ऐसा कहा जाना चाहिये कि अब ये सिद्धप्रभु कालद्रव्य का निमित्त पाकर अपने ही अगुरुलघुत्व गुण के पट स्थान पतित बुद्धि हानि से अपने ही स्वरूप में परिणमते हैं।

शुद्ध द्रव्य के परिणमन की मूल पद्धति की समानता—द्रव्यों की अपनी-अपनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य अपने स्वरूप में परिणम कर अपने ही ढंग से परिणम रहे हैं। ये सिद्धप्रभु अपने स्वरूप में परिणमकर अपने ही ढंग से परिणम रहे हैं, मगर परिणमन की पद्धति में अब जो बात आकाश आदिक द्रव्यों में है वही बात इन सिद्ध भगवंतों में है, इस दृष्टि से देखा जाय तौ वह विकास निरपेक्ष है, क्षायिक नाम तो पहिले था। जिनका पहिले जो नाम पड़ जाता है वह अन्त तक कहा जाता है, यह बात अलग है। क्षायिक भाव में क्षायिकता की बात कहना कर्मकृत समझना चाहिए। औपशमिक भाव की बात तो विशेष स्पष्ट ही है। कर्मों के उपशम होने पर औपशमिक भाव की उत्पत्ति होती है और कर्मों का अनुपशम होने पर अर्थात् उपशम मिट जाने पर वह औपशमिक भाव विच्छिन्न हो जाता है, इस कारण औपशमिक भाव भी कर्मकृत ही है।

दूर हटो परकृत परिणाम—उदय, उपशम, वाय, क्षयोपशमरूप, ये द्रव्यकर्म की अवस्थायें हैं। और उनका निमित्त पाकर जीव में जो भाव होते हैं वे भाव चूंकि जीव के स्वयं स्वभाव से उत्पन्न होते नहीं हैं इस कारण उनको भी उन कर्मों की ही अवस्थाएँ जान लीजिये। यह उपचार कथन से कहा जा रहा है, किन्तु स्वभाव की बड़ी तीव्र रुचि के कारण कहा जा रहा है। एक अंतस्तत्व का रुचिया ज्ञानी संत अपने आप में शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूप को निरख रहा है और उसका चमत्कार देख-देखकर प्रसन्न हो रहा है। इस ही बीच में कुछ कषायभाव की, औपशमिक भाव की कोई कुछ निगाह पहुंच जाय तो उस समय उसे ऐसा लगता है कि ये गैर भाव यहाँ क्यों घुस आये? मैं इतने अद्भुत विलक्षण आनन्द में था, केवल एक आत्मस्वरूप का अनुभव कर के मैं अपने में आनन्दविभोर हो रहा था, निर्विकल्प चल रहा था, ये गैर कहाँ से घुस आये और ये भाव प्रभाव गैर ये किसके हैं? मेरे तो नहीं हैं मेरा तो केवल एक शाश्वत चित्स्वभाव है। देखिये स्वभाव की इतनी पवित्र रुचि जगी है कि अपने आप में उत्पन्न हुए विकार इसे अपने आप में तो जंच नहीं रहे, ये आ क्यों गये? किस तरह आ गये? कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आ गए, तो ये कर्मों की ही दशायें हैं, ये कर्मों की चीजें हैं, दूर हटो परकृत परिणाम। इस तरह अपने आप में उत्पन्न हुए अपने विभावों से एकदम पर का बता देना यह ललकारने के लिए है। तुम दूर जाओ। मैं तो सहज आनन्दस्वरूप अपने आपके ही आत्मप्रदेशों में रहूंगा। ऐसी रुचि के साथ निरखिये, एक शाश्वत चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य समस्त भाव आपको कर्मकृत जंचेंगे।

जिनसिद्धान्त के मर्म के अवगम की पात्रता—औदयिकादिक ये जीव की अवस्थायें एक शुद्ध चित्स्वभावरूप नहीं हैं, इस ही कारण कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणामों के कर्ता ये द्रव्यकर्म हैं। इनका कर्ता मैं नहीं हूँ। जिनसिद्धान्त का मर्म नयों की कुशलता पाये बिना नहीं हो सकता और अपने आपके कल्याण की शुद्धदृष्टि जगे बिना नहीं हो सकता। सिद्धान्त का मर्म पाने के लिए ये दो बातें होनी आवश्यक हैं— १६क तो निज कल्याण की दृष्टि हो और दूसरे नयों में बहुत कुशलता प्राप्त की हो। नयों के सम्बन्ध में कोई हठवाद न हो, एकान्त न हो तब ही इस जिन सिद्धान्तरूप अगर समुद्र के भीतर पड़े हुए रक्त कर्मों की प्राप्ति हो सकती है। तत्त्व के कथन में शब्द-शब्द के प्रति नयों की कैसी-कैसी छाटयें चला करती हैं एक ही वाक्य में पद-पद में कि नय का मर्म पड़ा हुआ है, यह बात जिन्हें बोलने सुनने के साथ-साथ शीघ्र-शीघ्र ग्रहण में नहीं

आती है वे जिनसिद्धान्त के मर्म को यथार्थतया क्या जाने?

धर्मपालन का उद्यम—किसी भी एक बड़े काम के लिए वर्षों तैयारी करनी पड़ती है। मिलेटरी में योद्धा लोग कहीं आज ही भर्ती हों और आज ही काम में आ जाये ऐसा नहीं होता। १०-५ वर्ष वे तैयारी किया करते हैं तब उनके यह कुशलता जगती है कि वे संग्राम में अपनी कला दिखा सके। यह धर्म का पालन संसार के सब कामों से अधिक महान् है। यह धर्मपालन किसी बिले को ही तुरन्त हो ले वह बात अलग है, किन्तु यों नहीं हो जाता। आज मन में आया कि आज से धर्म करने लगें, क्या कि भाई के साथ मंदिर पहुंच गए। अब भादों आने वाला है भैया के साथ पूजन में खड़े हो गए, धर्म पाल लिया। अरे धर्मपालन के लिए सारा जीवन तैयारी-तैयारी में ही लगाना है तब किसी दिन धर्मपालन की विधि मासूम पड़ेगी और धर्म पालन का आनंद अनुभव में आयगा। इसके लिए पात्रता जगायें, उदारता जगायें, मंदकषाय करें ज्ञानार्जन करें और वह भी सत्संग से, गुरुमुख से और मर्मज्ञ पुरुषों से उसका अध्ययन करें। वह भी अध्ययन नम्रता, उपासना, सेवा, हार्दिक भक्ति आदिक गुण प्रकट हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी शिष्य कोई भी विद्या का अर्थी जितनी उसमें योग्यता है पात्रता है, नम्रता है, भक्ति है उतना ही वह समझता है, अथवा यों कहने अथवा वचनों में से अर्थ खोंच लेता है।

दृष्टान्तपूर्वक धर्मपालन के पुरुषार्थ का समर्थन—एक ब्राह्मण किसी संन्यासी के पास गया। बोला महाराज हमें कुछ उपदेश दो। हमारे कल्याण के लिए कुछ हमें बताओ। तो साधु ने कहा—ब्रह्म अस्मि का चिन्तन करो, मैं ब्रह्म हूँ। महाराज कुछ और बताओ। ब्रह्म अस्मि। कई बार उसने कहा कि कुछ और बताओ तो संन्यासी बोला कि अमुक गाँव में एक पंडित रहता है, उसके पास जाकर विद्या सीखो। वह उस पंडित के पास पहुंचा। बोला पंडितजी हमें कुछ विद्या सिखा दीजिए। तो पंडित ने कहा अच्छा देखता हूँ घर में कोई काम बा की तो नहीं रहा, क्योंकि बिना कुछ सेवा कराये विद्यार्थी को विद्या ही नहीं आती। कोई पैसा खर्च कर के किसी मिस्त्री से कुछ मशीनरी का काम सीखे तो वहाँ भी उसके साथ बड़े विनयपूर्वक रहकर मशीनरी की विद्या सीखी जा सकती है। तो बिना कुछ सेवा कराये विद्या न आयगी। पंडित जी ने कहा—देखो तुम रोज यह गोबर डालकर गौशाला साफ कर दिया करना। यही तुम्हारा रोज का काम है और विद्या सीखना। वह बेचारा दो तीन घंटे रोज गौशाला की सफाई का काम करे और विद्या सीखे। १२ वर्ष तक इसी तरह विद्या सीखी। जब अंतिम दिन बिदा होने को हुआ तो उस ब्राह्मण ने कहा—पंडित जी, अब हमें दक्षिणा के रूप में दीक्षांत की तरह एक अन्तिम शिक्षा दीजिए। तो पंडित जी बोले—चिन्तन करो-ब्रह्म अस्मि तो वह ब्राह्मण बोला-पंडित जी इतनी बात तो एक संन्यासी ने हमें १२ वर्ष पहिले बताई थी, तो क्या मैंने १२ वर्ष तक गोबर मुफ्त ही में उठाया? पंडित जी बोले—मुफ्त में इतने दिन तुमने गोबर नहीं उठाया, इतनी विद्या सीखने के लिए बिना इतने दिन इस प्रकार का श्रम किए यह विद्या आ ही न सकती थी। तो जिसे धर्मपालन कहते हैं वह यों ही नहीं कर लिया जाता, इसके लिए तो सारा जीवन ही तैयारी में लगाना पड़ता है। इसके लिए महान् ज्ञानबल का प्रयोग करना पड़ेगा तब जाकर धर्मपालन की स्थिति आती है। कर्ता भाव से रहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि में मग्न होना यही धर्मपालन है और यह ही कल्याणकारी महान् पुरुषार्थ है।

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता ।

ठा कुण्दि अत्ता किंचिवि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥५९॥

कर्तृत्वविषयक एक आशंका—पूर्व गाथा में जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक—इन चार भावों को कर्मकृत कहा गया था। द्रव्यकर्म के उदय से औदयिकभाव होता है अतः औदयिक भाव का कर्ता द्रव्यकर्म है। इस ही प्रकार द्रव्यकर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम अवस्था का निमित्त पाकर औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं, इस कारण उन्हें भी

कर्मकृत कहा है। इस वर्णन को सुनकर एक आशंका हो सकती है, उस ही आशंका का इस गाथा में वर्णन है। यदि ये भाव कर्मकृत हैं तो फिर आत्मा इन कर्मों का अर्थात् भावकर्मों का कर्ता कैसे हो जायगा? बात तो यह थी कि यह आत्मा अपने भावों को छोड़कर अन्य किसी का कर्ता नहीं है, किन्तु तुम तो इससे विपरीत ही बात कह रहे हो। आत्मा के भावों का करने वाला द्रव्यकर्म को बता दिया। अब आत्मा अपने आत्मभाव को कैसे करे, यदि यह कहें कि जीव को अकर्ता रहने दो, वह अपने परिणाम भी न करे। जीव के परिणामों का करने वाला कर्म हो गया तो क्या आपत्ति है, तो यह भी फिट नहीं बैठता कि जीवको सर्वथा अकर्ता कह दिया जाय। ऐसा लोक में कोई पदार्थ नहीं है जिसका कभी कुछ परिणमन ही न हो। जिसका जो परिणमन है वह उसका कर्ता है। जीव एक अमूर्तिक चैतन्य विशेष धर्म को लिए हुए सद्भूत पदार्थ है।

अनुभव की प्रामाणिकता—यह जीव है, यह बात सब विदित होती है जब अपने आपको ज्ञानमात्र रूप में अनुभवा जाय। जो ज्ञानप्रकाश है, ज्ञान प्रतिभास है निज स्वभाव में तादात्म्यरूप यह वास्तविक कोई सत् है इसका परिज्ञान होता है। लोग जीव के बारे में जानना तो चाहते हैं बड़े स्पष्ट और बिस्तार में, पर जानने का जो उपाय है उस उपाय को नहीं करना चाहते। इन इन्द्रियों से अथवा युक्तियों से उसे पहचानना चाहते हैं, पर ये इन्द्रियां भी सत्य बात जानने के साधन हैं ऐसा भले ही स्वीकार करें, पर कहीं-कहीं फेल हो जाते हैं। जो सत्य-सा दिखता है वह भी असत्य हो जाता है और इसके पश्चात् कोई युक्तियों का विश्वास करे तो युक्ति मानो सच सी लगती, पर फेल हो जाया करती है। युक्ति में जैसा उतरता है वैसा सही नहीं है। एक अनुभव ही ऐसी चीज है जो पूर्ण प्रामाणिक हुआ करता है।

इन्द्रियज ज्ञानों में अप्रामाणिकता की भी संभावना—एक ऐसी घटना हुई कि राजमहल में राजा के पलंग को सजाने वाला कोई नौकर था। जिसका केवल यही काम था कि उस महल के कमरे की सफाई रखे और पलंग को इतना बढ़िया सजाये कि जिस पर सोते ही नींद आ जाय। वह नौकर रोज पलंग सजाया करता था बहुत कोमल सुगंधित। एक दिन उसने सोचा कि मैं रोज यह पलंग सजाया करता हूँ इतना कोमल तो आज जरा इस पर दो मिनट लेटकर देख तो लूँ कि राजा किस आराम से इस पलंग पर सोते हैं? उस नौकर को दो मिनट में ही नींद लग गयी। अब वह पलंग पर लेटा रहा। रानी आयी, समझा कि राजा सो रहे हैं, सो वह भी उसी पलंग पर लेटकर सो रही। थोड़ी देर बाद राजा आया, यह दृश्य देखकर उसे इतना कोध आया, सोचा कि इन दोनों के तलवार से सिर उड़ाकर जान खत्म कर दे। फिर कुछ विवेक किया, देखें आखिर मामला क्या है, कौन है कैसा है? कुछ परीक्षा तो करें। अब देखो न नौकर को रानी का पता, न रानी को नौकर का पता। राजा ने सबसे पहिले रानी को जगाया तो जगकर वह बड़े अचरज में पड़ी। सोचा कि यह मामला क्या है, राजा तो अब आये हैं। बड़े विस्मय के साथ वह चिन्ता करने लगी। राजा से पूछा रानी ने विस्मय के साथ कि आप तो यहाँ खड़े हैं यह कौन पड़ा है? यह तो मेरे आने के पहिले इसमें पड़ा हुआ था। नौकर को जगाया तो वह तो राजा और रानी दोनों को देखकर डर के मारे कांपता हुआ बोला महाराज भूल हुई। मेरे आज एक कुबुद्धि उत्पन्न हो गयी थी। मेरे दिमाग में आया कि बहुत दिनों से पलंग बिछा रहा हूँ, लेटकर देखना चाहिए कि राजा कैसे पलंग पर सोते हैं। जब मैं इसमें लेट गया तो लेटते ही नींद आ गयी। तो अब देखो देखी हुई बात है, राजा ने आंखों देखी है फिर भी क्या वह सच है जो राजा ने कल्पना में किया था? तो इन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष की हुई बात भी फेल हो सके, ऐसा हो जाता है।

युक्तियों की भी कभी अप्रामाणिकता की संभावना—चलो मुक्ति की बात देखो। युक्ति की बात शायद फेल न होती हो। एक पुरुष के दो स्त्रियां थीं। एक स्त्री के एक लड़का था और एक के न था। तो जिसके लड़का न था उसने राजा के पास अपना मामला दायर कर दिया कि महाराज यह लड़का मेरा है। राजा ने दोनों स्त्रियों को बुलाकर पूछा तो एक स्त्री कहे मेरा लड़का

है, दूसरी स्त्री कहे मेरा लड़का है। जिस स्त्री का लड़का न था उसका वकील चतुर था। बोला—महाराज जरा बुद्धि से तो सोचो पिता की जो सम्पदा होती है उस सम्पदा पर हक स्त्री का होता है कि नहीं? तभी तो शायद ऐसा माना जाने लगा कि कोई पुरुष अपनी स्त्री के नाम कोई जायदाद कर दे तो वह अलग नहीं समझी जाती। हाँ-हाँ युक्ति में तो उतर रहा है कि जो पति की सम्पदा है, पति की चीज है वह स्त्री की भी पूरी है। यह लड़का इसका ही तो है। बड़ा विवाद चला।

अनुभव की प्रामाणिकता का एक वृष्टान्त—राजा ने एक दिन छोड़कर दूसरे दिन इस मुकदमें को लिया तो राजा के चित्त में निर्णय समा गया और सिपाहियों को समझा दिया हम ऐसा आर्डर देंगे, तुम यों करना, यों न करना सब बता दिया। जब दोनों स्त्री सामने आयीं तो यह निर्णय दिया कि देखो तुम दोनों एक ही पति की स्त्री हो। जो पति की जायदाद होती है उस पर उसकी स्त्री का हक होता है, इसी कारण हमारी ओर से यह फैसला है कि इस लड़के पर तुम दोनों का हक है। ए सिपाहियों! इस लड़के का ठीक बीच से पेट से काट दो और एक हिस्सा एक स्त्री को दे दो, दूसरा दूसरी स्त्री को। अब जिस स्त्री का बच्चा न था वह मन ही मन बड़ी खुश हो रही थी, सोचती थी कि इससे बढ़कर मुझे और क्या मिल जायगा? मेरे तो बच्चा है ही नहीं और इसके भी बच्चा न रहेगा। और जिस स्त्री का वह बच्चा था वह कहती है—महाराज यह मेरा बच्चा नहीं है, यह बच्चा इसका ही है, आप इसको ही दे दो, मुझे न चाहिए। तब राजा ने उस मना करने वाली स्त्री को वह बच्चा दे दिया। उस स्त्री की यह चाह थी कि बच्चा जिन्दा तो रहे, चाहे मेरे पास रहे चाहे इसके पास। मैं तो इसकी शक्ति ही देख देखकर खुश रहूँगी। तो अनुभव ने इसको प्रमाणित किया। अनुभव में उतरी हुई बात दिल में आयी हुई बात प्रामाणिक होती है। कदाचित् ऐसा भी हो सकता कि भ्रम में कुछ से कुछ मान ले तो प्रमाणित नहीं है। ठीक है किन्तु विवेक हो तो अनुभव में प्रमाणिकता आती है।

यथार्थ ज्ञान के लिये विपरीताशय के परिहार की अनिवार्यता—अपने आत्मा के सम्बंध में यदि यथार्थ ज्ञानकारी करना है तो विपरीत अभिप्राय को दूर करना होगा, परपदार्थों से उपेक्षा रखनी होगी। शरीर, धन, परिवार, घर, यश, नाम समस्त परतत्त्वों की उपेक्षा करनी होगी। इतना विशुद्ध आशय बनाए बिना आत्मतत्त्व के बारे में कुछ नहीं जाना जा सकता है। फिर इतनी तैयारी के बाद सहज विश्राम से यह अपने आत्मतत्त्व को देखे तो इसे अपने आप में अपने स्वरूप का दर्शन हो सकता है। मैं ज्ञानमात्र जो एक आल्हाद और आनन्दस्वरूप को लिए हुए हूँ, ऐसा सहज ज्ञानानन्दस्वरूप यह निज आत्मतत्त्व अपने आपको स्पष्ट अनुभव में आ जायगा।

आशंका का पुनः विवरण—इस आत्मा के सम्बंध में यह एक चर्चा रखी जा रही है, यह आत्मा अपने परिणामों का कर्ता है, यह बात आगम प्रमाण से, युक्तियों से, अनुभव से सब प्रकार से निश्चित कर दी थी। अब यह क्या पन्ना पलटा दिया, जीव के भाव को कर्मकृत ही कह डाला और एक पारिणामिक भाव छोड़ा, उसे कर्मकृत नहीं कहा, सो उसे कार्य भी तो नहीं माना किया भी तो नहीं माना, काम भी तो नहीं माना, फिर कृत बात कहने की गुंजाइश ही क्या है? जो काम है, जो परिणाम है वह चाहे क्षायिक हो, औदायिक हो, औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो, उन सबको भी कर्मकृत कह डाला, तब फिर यह आत्मा किसे करेगा? ऐसी आशंका इस गाथा में रखी जा रही है। यदि ये औपशमिक आदिक चार भावकर्मों के द्वारा किए जाते हैं तो अर्थ यह हुआ ना कि जीव उन भावों का कर्ता नहीं है। उनके कर्ताकर्म हुए। तब जीव उन भावों का कर्ता नहीं। इसका भाव यह हुआ कि किसी का भी कर्ता नहीं, यह बात तो इष्ट है नहीं, सिद्धि न होगी। यथार्थ है भी नहीं।

कर्तृत्वविषयक समाधान—जीव तो अब यहाँ कर्ता रहा नहीं तुम्हारी शंका में। तो अर्थ यह हुआ कि जीव अपने भावों का कर्ता नहीं किन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता हो गया। तो परस्पर में जुहार हो गयी। द्रव्यकर्म ने कर दिया जीव के भावों को और जीव ने कर दिया द्रव्यकर्म को। लो कैसे कलंक से बचे? पदार्थ को अकर्ता भी न रहने दिया, परिणमन से रहित भी न रहने दिया।

और बात भी कुछ से कुछ रख दिया । जीव हुआ द्रव्यकर्म का कर्ता और पुद्गल कर्म हुआ जीव के भावों का कर्ता, मगर यह बात कैसे घटित हो, क्योंकि निश्चय से यह आत्मा अपने भावों को छोड़कर अन्य किसी की कर ही नहीं सकता, करता ही नहीं है । यदि एकान्त से ये रागादिक भाव कर्मों के द्वारा ही किए गए हैं तब आत्मा द्रव्यकर्म का भी कर्ता कैसे हो सकता है, क्योंकि रागादिक परिणाम तो करता है कर्म, सो रागादिक परिणामों का धनी तो नहीं रहा यह जीव और जीव में रागादिक परिणाम हुए बिना द्रव्यकर्म बन नहीं सकता तब कुछ सिद्ध न हो सकेगा । अतः यह बात जंचरी नहीं है कि द्रव्यकर्म जीव के भावों का कर्ता है ।

दर्शनिक एक पक्ष की झाँकी—इसमें एक बात और दर्शनिकता की बतायी है । कुछ लोग ऐसा मानने हैं कि जीव स्वभाव का कर्ता है, स्व के भाव का नहीं, किन्तु स्वभाव का कर्ता है अर्थात् जीव में जो चैतन्यतत्व है, स्वभाव है उस चैतन्य का कर्ता है यह जीव, पर जीव के जो परिणम हैं उनका कर्ता नहीं है । चेतन के परिणम ही नहीं हुआ करते । ये जानन देखन, विचार, राग, द्वेष जो कुछ होते हैं यह जीव की क्रिया नहीं है, प्रकृति की क्रिया है, यों सांख्य सिद्धान्त के अनुसार यह पक्ष रखा जा रहा है कि जीव तो कर्ता ही नहीं रहा किसी का । इसही पक्ष को लेकर कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि चेतन तो अकर्ता है, कुछ नहीं करता । और चेतन निर्गुण है, भेदरहित है, ये ज्ञान, दर्शन, आनन्द जो कुछ तुम समझ रहे हो ये इस चेतन आत्मा के गुण नहीं हैं, ये प्रकृति के हैं ऐसा सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप बताया जा रहा है । यह आत्मा शुद्ध है, रागद्वेष से परे है । इस समय लोग यह श्रम कर रहे हैं कि यह आत्मा रागद्वेष करता है । रागद्वेष कर रही है और दूसरी कोई शक्ति और श्रम हो गया है कि यह जीव रागद्वेष करता है । जिस दिन यह भ्रम मिट जायगा और जीव को निर्गुण अकर्ता के रूप में परख लेगा तब ही कल्याण बनेगा । इस आधार को लेकर इस जीव को अकर्ता और निर्गुण कहा गया है । यह चेतन अकर्ता है, निर्गुण है, इसी कारण यह शुद्ध है, नित्य है, एक है, सर्वव्यापक है ।

अध्यात्म आशंका का समाधान—भैया ! देखिये कहीं की बात कहीं जोड़ी गयी है उक्त अध्यात्मसिद्धान्त में । बातें सब सही हैं, गलत कुछ नहीं है जो कुछ भी कहा जा रहा है, पर कहीं की बात कहीं जोड़े, बस उसका एक रूप बन गया है यह । यह चौकी है इसमें चार पाये हैं, अगल-बगल ये चार पाटिया भी लगी हैं, उसके ऊपर यह पाटिया भी लगा है, यह तो ठीक है जो लगा है, मगर इस चौकी बनने से पहिले ये सारे के सारे अवयव अलग-अलग थे या नहीं थे । अब उनको कोई बेढंगे ढंग से जोड़ दे, पाटिया पर पावा जोड़ दे, पावा पाटी की तरफ जोड़ दे तो इस तरह जोड़ देने से चौकी बन जायगी क्या? नहीं बनेगी । इसी तरह बातें तो ये सब सही हैं । आत्मा अकर्ता है कि नहीं है, देख लो खूब । और ये धर्मद्रव्य, अर्धर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अकर्ता हैं कि नहीं? हाँ हैं । इनकी बात तो जरा जल्दी समझ में आ जाती है कि ये पदार्थ अकर्ता हैं । ये कहाँ कुछ करते हैं? कुछ भी नहीं करते हैं । तो क्या ये सभी पदार्थ परिणमन बिना रहते हैं? हाँ परिणमन बिना तो नहीं रहते । तो वे अपना परिणमन करते हैं कि नहीं? अरे अपने परिणमन करने की बात लेना फिट नहीं बैठती । वे पदार्थ हैं और उनमें परिणमन होता है । होने की बात सही लगती है, करने की क्या बात है वहाँ? पदार्थ हैं, परिणम रहते हैं । हाँ उन पदार्थों में यह बात ठीक घटित हो गयी और चित्त में भी जम गयी कि ये आकाश आदिक द्रव्य परिणमते रहते हैं, करते कुछ नहीं हैं । अरे तो यही बात तो जीव की है । ये जीव परिणमते रहते हैं, करते कुछ नहीं हैं ।

अकर्तृत्व और निर्गुणत्व के भ्रम का कारण व सिद्धि—लोगों को करने का भ्रम क्यों हो गया? यों हो गया कि इसमें एक चेतन की विशेषता है, समझने की विशेषता है । बुद्धि और आशय में आया कि क्या है तब इसमें करने का नाम लग रहा है । साहित्य में किसी पदार्थ का करने वाला किसी प्राणी को बताया जाय तो उसमें वह अलंकार नहीं मानता, किन्तु वह अजीव किसी अजीव

को करने की बात बताई जाय तो उसमें अलंकार मानता है। तो इससे भी आप यह जान जाये कि अचेतन में करने का व्यवहार नहीं होता। चेतन के करने का व्यवहार होता है, मगर पदार्थ के नाते जो स्थिति अचेतन की है वही स्थिति चेतन की है, फिर यहाँ करने की बात क्यों कहते हो? खूब परख लो, इस दृष्टि से यह जीव अकर्ता है कि नहीं? है। और निर्गुण, आत्मा के जब हम शुद्ध साधारण चैतन्यस्वरूप को निरखने चलते हैं तो यह सामान्य तत्व जब हमारे अनुभव में आता है तब हमारे विकल्प कुछ नहीं रहता, और जब विकल्प नहीं रहता तो कोई गुण नहीं है। गुण का अंदाजा, गुण का प्रयोग, गुण का व्यवहार तो विकल्प अवस्था में है। तब देखो आत्मा निर्गुण हुआ ना? पर से विविक्त केवल स्व मात्र है ना।

नित्य व सर्वगतत्व आदि की सिद्धि—देखो नित्य है ना, और सर्वगत है ना यह जीव। प्रथम तो इस लीक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ जीव न हो और फिर एक स्वभावदृष्टि अगर करें, जहाँ एक केवल चैतन्यस्वरूप ही दृष्टि में आये तो वह चैतन्यस्वरूप बतावो कौन सीमा में है? यह स्वरूप चेतन है, यहाँ तक ही है, आगे नहीं है। और उसका न कोई खास केन्द्र है, न विस्तार है, न छोटापन है, न बड़प्पन है। वह तो बड़ी से बड़ी सीमाओं को छोड़कर एक चैतन्यमात्र है। तब सर्वगत हुआ ना? अक्रिय है, अमूर्त है, ये सब बातें जो सांख्य दर्शन में हैं वे सब सही हैं, मगर किसी नये से कुछ चीज जोड़ना चाहें, किसी नये के कुछ चीज जोड़ना चाहें, यह जुड़ावा न करके नये विभाग पूर्वक सबको एक जोड़ दे, बस सही बात हो जाती है। यह पूर्व पक्ष चल रहा है, इसका और विवरण अभी किया जायगा।

नयविभाग की व्यवस्था से स्वरूपनिर्णय—जैसे खाट के ८ अग—४ पाया, २ पाटी, २ सीरा ये सही हैं, पर किसी अंग को किसी अटपटे अंग के साथ जोड़ दिया जाय तो क्या खाट का स्वरूप बन जायगा? पावा में पावा जोड़ दो, पाटी में पाटी जोड़ दो तो खाट बन जायगा क्या? नहीं बनेगा, ऐसे ही आत्मा में ये सभी धर्म हैं। यह आत्मा अकर्ता है, इसका जो शाश्वत स्वरूप है उसमें रंग तरंग नहीं है, फिर कर्ता किस बात का? यह आत्मा निर्गुण है, केवल एक ज्ञानस्वभाव स्वरूप है, यह आत्मा शुद्ध है, सर्व से विविक्त केवल अपने सहजस्वभाव में तन्मय है। यह आत्मा नित्य है, शाश्वत है, सदा रहने वाला है। यह आत्मा सर्वव्यापक है। स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो इस दृष्टि से केवल वही-वही असीम नजर आता है, इसलिए सर्वगत हुआ ना? पदार्थ दृष्टि से देखा जाय तो इस लोक में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं बचा जहाँ अनन्ते जीव न हों। एक जीव की तो कहानी क्या है? यह सारा लोक जीवों से खचाखच भरा हुआ है ना, और ये सब जाति दृष्टि से एक ही तो हैं, इसलिए सब जीव हैं, यों कहा जा सकता है। जीव सर्वव्यापक है, यह जीव निष्क्रिय है। यह तो केवल अपने भावरूप है। निश्चयदृष्टि रखकर सब सोचते जाइये। यह जीव अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है। यह जीव चेतन है, जड़ता से शून्य है, स्वभावमय है। यह जीव भोक्ता है, कुछ तो परिणमता है। वहाँ उसका अनुभवन है। ये सारी बातें इस आत्मा में सही बैठती हैं, किन्तु जो धर्म जिस नये से कहा जाने योग्य है, समझा जाने योग्य है उसको उस नये से न समझें और जो चाहे धर्म जिस चाहे धर्म के साथ जोड़ बैठे तो यह तो स्वरूप न बन जायगा।

धर्म द्वारा धर्मी की कक्षव्यता—इस प्रसंग में एक बात और समझना है कि कोई भी किसी धर्मी का सीधा प्रतिपादन नहीं कर सकता। जब भी प्रतिपादन करेगा तो किसी धर्म का प्रतिपादन करेगा किसी अंश का करेगा। समग्र वस्तु को कोई कह नहीं सकता। जैसे आत्मा के सम्बन्ध में जब यों कहा जायगा कि यह ज्ञानी है, ज्ञानमय है तो एक अंश ही तो बताया गया ना? समग्र आत्मा कहाँ कहा गया? यह आनन्दस्वरूप है, एक ही अंश तो कहा गया है। समग्र आत्मा किसने कहा है? कहा नहीं जा सकता, तब समग्र पदार्थ को हम समझें कैसे? कौनसा शब्द है, कौनसा ढंग है, बस वहाँ केवल एक ही अंग है। जिस धर्म को हम प्रधान मानकर वस्तु के ज्ञान के लिए चलते हैं वह धर्म तो धर्मी बन जायगा और शेष धर्म-धर्म बन जाते हैं। तो इससे भी बात यही ध्वनित हुई

कि धर्म को धर्मी से जोड़ा जा रहा है। यदि अट-पट रूप से जोड़ दिया जाय तो वह आत्मस्वरूप न बन जायगा। किस नय से किस धर्म को किस प्रकार समझना है, जानना है, प्रतिपादन करना ह उस ही पद्धति से चर्चा चले तो वहाँ आत्मस्वरूप बनेगा।

कर्तृत्व के सम्बन्ध में सिद्धान्तस्थापन से पूर्व पक्ष की भूमिका—यह प्रकरण चल रहा है कर्तृत्व के सम्बन्ध में एक आशंका का। यदि रागादिक भाव या कुछ भी आत्मभाव कर्मकृत हैं तब फिर जीव ने क्या किया? कर्म न किया जो कुछ किया। और जैसे कि यहाँ कुछ आगम का माध्यम लेकर कहा जा सकता कि देखो जीव को ज्ञानी बनाया तो जीव के ज्ञानावरण के क्षयोपशम ने बनाया। न हो ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो कैसे ज्ञानी बने, और देखो-जीव को अज्ञानी बनाया तो ज्ञानावरण के उदय ने बनाया न, न हो ज्ञानावरण का उदय तो यह जीव अज्ञानी कैसे हो? रागद्वेष मोह ये सभी बातें कर्म ने किया ना? इस प्रकार सर्वभावों को कर्मकृत ही सर्वथा यान लिया जाय तो फिर जीव ने और कुछ किया क्या सो बतावो? कहोगे कि जीव ने द्रव्यकर्म को कर दिया। यह भी बात ठीक नहीं है। यह आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य कुछ नहीं करता। अच्छा यही मान लो कि जीव का जो स्वभाव है शाश्वत अपरिणामी चिद्रूप जो तत्व है उसको किया। अरे उसको क्या किया? अब इस प्रसंग के सम्बन्ध में सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।

भावो कर्मणिमित्तो कर्मं पुण भावकारणं होदि ।

ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

निमित्तदृष्टि व उपादानदृष्टि से कर्तृत्व—ये मिथ्यात्व रागादिक भाव जीव में कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं अर्थात् कर्मों के उदय होने पर ये रागद्वेष मोह आदिक भाव होते हैं, और ये कर्म भावकारणं होते हैं अर्थात् जीव के रागादिक भावों का निमित्त पाकर ये कार्मण-वर्गणायें कर्मरूप से परिणम हो जाया करती हैं। वस्तुतः जीव में और कर्म में परस्पर कर्तृत्व सम्बन्ध नहीं है। निश्चयदृष्टि से, उपादानदृष्टि से जीव न कर्म का कर्ता है, कर्म न जीव का कर्ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव में जो भाव उत्पन्न हुए हैं उनका उपादान कर्ता जीव है और कार्मणवर्गणा की जो अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं उनका उपादान कर्ता कर्म पुद्गल है।

वस्तुविज्ञान का प्रयोजन विभक्त तत्व का परिचय—देखिये यह प्रसंग प्रयोजनभूत ज्ञातव्यतत्व का प्रकरण है, इष्टोपदेश में लिखा है—जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ जितने भी उपदेश होते हैं, जितने भी वर्णन हों धर्म के प्रसंग में उन सबका निचोड़ केवल इतना ही है कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। इसके अलावा जो भी वर्णन हो रहा हो वह सब इस ही का विस्तार है। धर्मपालन के लिए सर्वप्रथम यह ज्ञान होना आवश्यक है कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। यह मैं चैतन्य जीव जुदा हूँ और ये धन वैभव, परिजन, देह इत्यादि सब प्रकट जुदे हैं। यह जुदापन क्यों समझना? ताकि मोह न आये। यह ही मेरा सर्वस्व है, इस वैभव से ही मुझे शान्ति है, इसमें ही मेरा बढ़प्पन है, हित है, यह कुबुद्धि न समाये—इसके लिए भेदविज्ञान की आवश्यकता है। यह तो प्रकट भिन्न पदार्थों की बात कही है। अब इससे और भीतर चलें तो ज्ञानावरणादिक कर्म हैं और यह जीव है। इन दोनों में भेदविज्ञान करना चाहिए, जीव जुदा है और ये पुद्गलकर्म जुदे हैं, यह बात आप तभी तो समझ पायेंगे जब यह निर्णय हो जायगा कि जीव-जीव के भाव का स्वामी है। जीव-जीव के भाव का कर्ता है। जीव-जीव के भाव का अधिकारी है, और पुद्गल-पुद्गल का ही स्वामी, अधिकारी एवं कर्ता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध व वस्तुस्वातन्त्र्य का परिचय—द्वैत की दृष्टि रखकर उपादान के रूप में इन दोनों का सम्बन्ध निरखा कि वहाँ निर्माहता सिद्ध नहीं हो सकती। जीवभाव का और कर्मभाव का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी है और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त जुदे हैं, और प्रत्येक अपने आप में अपने परिणमन में स्वतंत्र

हैं। ये दो बातें जिनके उपयोग में स्पष्ट निर्णीत हैं। जाती हैं वे तत्व मर्मज्ञ हैं। यदि कोई दुराशय से किसी एक बात की, और ही हठ कर ले तो उसने वस्तु के स्वरूप का जलवा नहीं समझ पाया। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूप में स्वतंत्र है और वह मलिन भी है और मलिन भावों से परिणमेगा भी तो भी स्वतंत्र होकर अपने परिणमन से ही परिणमकर वह मलिन बनेगा। किन्तु ऐसा होने में कोई पर-उपाधि निमित्त हुई। पर-उपाधि निमित्त होने पर भी निमित्तभूत उपाधि ने अपने द्रव्य गुण कर्म कुछ भी उस परिणमते हुए भिन्न उपादान को कुछ नहीं दिया।

नयचक्र की साधना में ज्ञानप्रकाश—भैया! निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का और उपादान उपादेय भाव का स्पष्ट निर्णय एक ज्ञानी संत में रहा करता है। कर्म जीव के भावों का कर्ता है। जीव ही जीव के भाव का कर्ता है। जीव और कर्म बिल्कुल जुदे पदार्थ हैं। जीव और कर्म का परस्पर एक क्षेत्रावगाह घनिष्ठ सम्बन्ध है आदिक समस्त कथन जो सुनने में विरोधी कथन जैसे लगते हैं वे भी नयचक्र के साधनों से सब अविरोधी मालूम होने लगते हैं। यह नयचक्र एक कठिन चक्र है। इसका साधन जब तक नहीं हो पाता है तब तक वस्तुस्वरूप के प्रकाशन में उसे सफलता नहीं मिल सकती। अज्ञान और मोह से युद्ध करने में वह विजयी नहीं हो सकता। इस कारण इस समस्त वर्णन को नयचक्र की साधना सहित सत् आशय के साथ सुनना चाहिए।

जीवभाव व कर्मभाव में निमित्तनैमित्तिकता—जीवभाव का कर्ता कर्म है, क्योंकि ये औदयिक आदिक जो भाव उत्पन्न हुए हैं वे कार्यों का निमित्त पाकर हुए हैं। कर्मों के उदय का निमित्त हुए बिना यह जीवभाव उत्पन्न नहीं होता। यदि कर्म स्थिति का निमित्त पाये बिना जीवभाव उत्पन्न हो जाय तो यह औदयिकभाव ही जीव का स्वरूप बन जायगा और जो जिसका स्वरूप होता है वह उससे त्रिकाल भी अलग नहीं किया जा सकता, तब यों इसे सदाकाल राणी ही मोही ही बना रहना पड़ेगा और दुःखी रहना होगा। जीव का विभाव कर्म का निमित्त पाकर होता है अतएव व्यवहारदृष्टि से कर्म जीवभाव का कर्ता है और इस ही प्रकार जीवभाव द्रव्यकर्म का भी कर्ता है। कार्माणवर्गण में जो कर्मत्व की प्रकृति आती है वह आत्मा के रागद्वेष भावों का निमित्त पाये बिना नहीं आती, अतएव जीवभाव द्रव्यकर्म का कर्ता है। पर साथ ही यह भी देखते जाना कि यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी पर्याय का पर्याय के साथ है, द्रव्य का द्रव्य के साथ नहीं है। द्रव्य का द्रव्य के साथ भी सम्बन्ध कहा जाय तो यों समझना कि चूंकि द्रव्य पर्यायमय है और पर्याय को प्रधान कर के द्रव्य को निरख कर के कहा गया है। शाश्वत स्वभावरूप में निरखा गया द्रव्य किसी भी मध्य का निमित्त भी नहीं है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में पर्याय की मुख्यता—जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार के हस्त आदिक की क्रिया निमित्त है कि वह समस्त कुम्हार देह मात्र निमित्त है? अरे कुम्हार की हस्त क्रिया चाक, डंडा, मिट्टी ये सब निमित हैं। तो जैसे कुम्हार की क्रिया हाथ आदिक का चलाना, इस प्रकार की चेष्टा घट निर्मिति के निमित हैं ऐसे ही कर्मबंध होने में कर्म की दशा बनने में जीव निमित्त नहीं है, किन्तु जीव की जो रागद्वेष मोह आदिक चेष्टायें हैं वे निमित्त हैं। इसही प्रकार जीव के परिणाम रागद्वेष आदिक बनने में कार्माण का द्रव्य निमित्त नहीं है, किन्तु उस पुद्गल द्रव्य में जो एक कर्मत्व अवस्था आयी है और विपाक अवस्था को प्राप्त है वह अवस्था जीव के भाव बनने में निमित्त होती है। तो यों व्यवहारदृष्टि से जीवभाव कर्मभाव का कर्ता है और कर्मभाव जीवभाव का कर्ता नहीं है, किन्तु निश्चय से देखा जाय तो जीवभाव का कर्म कर्ता नहीं और कर्मों का जीवमात्र कर्ता नहीं। अभी यहाँ निश्चयदृष्टि को परम शुद्धनिश्चयदृष्टि नहीं कहा है, किन्तु कर्तापन भी देखा जाय और निश्चयदृष्टि भी लगाई जाय तो इस ढंग से निश्चय से जीवभाव का कर्ता कौन है और कर्मभाव का कर्ता कौन है, ऐसी चर्चा होने पर यह उत्तर मिलेगा कि निश्चय से जीवभाव का जीव कर्ता है, कर्मभाव का कर्म कर्ता है और जब परम शुद्धनिश्चय की दृष्टि लगायी तो वहाँ यह दिखेगा कि यह जीव न जीवभाव का कर्ता है, न कर्मभाव का कर्ता है। यह तो अकर्ता है। यह पुद्गल न पुद्गल स्थितियों का कर्ता है, न जीवभाव का कर्ता है वह तो अकर्ता

है ।

निजपरिचय में यथेष्ट विहार—जैसे जिसका बहुत बड़ा बगीचा हो और उसमें उसका महल भी बना हो, वह वहाँ का मुख्य स्वामी हो तो वहाँ किसी भी जगह डोलने में शंका नहीं रहती । कभी छत पर घूमे, कभी फब्बारे पर घूमे, कभी कमरे में जाये । कहीं भी घूमने-फिरने में उसे कोई शंका नहीं रहती है, अपने ही महल में है, अपनी भूमि में है, अपने घर में है, ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुष को अपने इस चैतन्य गृह का परिचय हुआ है वह किसी भी चरण से किसी भी नय से जैसा चाहे विहार करे । अभी अकर्ता को समझे, अब कर्तापन समझे अब पर का कर्ता समझे, जैसा चाहे अपने को निरखे, पर को निरखे, यथार्थ जाने और सब जानते हुए भी यह कहाँ चूकता नहीं, इसके पैर कहाँ फिसलते नहीं, सब कुछ यथार्थ समझ जाता है और सभी समझों में अपनी प्रसन्नता का अनुभव करता जाता है । उस प्रसन्नता का कारण निज चैतन्य-गाथा ६१ २४९स्वभाव की दृष्टि है । व्यवहार से भी कह रहे हैं कि यह जीव भावकर्म कर्ता है, तो भी अन्तरङ्ग में यह प्रतीति बनी हुई है कि यह जीव तो निश्चयतः अकर्ता ही है ।

ज्ञानी का सब ज्ञानों में मूल ज्ञान—व्यवहारदृष्टि से देखो तो जीवभाव का कर्ता कर्म है और कर्म का कर्ता जीवभाव है, और निश्चय से देखो तो जीवभाव का कर्म कर्ता नहीं और कर्म का जीवभाव कर्ता नहीं, लेकिन साथ ही एक बात और नजर में आये कि वे दोनों के दोनों किसी कर्ता के बिना हो नहीं सकते । तब यही फलित अर्थ निकला कि निश्चय से जीव के परिणामों का कर्ता जीव है और कर्म के परिणामों का कर्ता कर्म है । यह आत्मा स्वभावदृष्टि से कर्मोदय रहित है, चमत्कार मात्र ही इसका परमात्मस्वभाव है, उसके विरोधी ये कर्म हैं अथवा जीव के विभाव हैं जिनकी चर्चा चल रही है । यह यथार्थतः ज्ञानी पुरुष को विस्मृत नहीं होता । जैसे मनुष्य प्रत्येक कार्यों में, प्रत्येक प्रसंगों में अपने नाम के लगाव से चिपके रहते हैं, उसे भूलते नहीं हैं । मेरा तो अमुक नाम है । इस नाम का कभी भी विस्मरण नहीं होता, सदा रुख्याल रहता है कि मैं यह हूं—ऐसी ही ज्ञानी पुरुष को अपने आपके उस निर्विकार चित्त्वरूप की खबर प्रतीति बनी रहती है । कुछ भी चर्चा हो, कहीं भी उपयोग हो, कैसी ही परिस्थिति में हो, निज चैतन्यस्वभाव की प्रतीति उस ज्ञानी पुरुष के सदा रहती है ।

आत्मप्रकाश में विमोहता का अभाव—देखो जीवगत रागादिक भावों का जीव ही उपादान कर्ता है और द्रव्य कर्मों का उन वर्गणावों में पड़ा हुआ जो पुद्गल है वह कर्ता नहीं है । यह मैं तो स्वतंत्र हूं, अपने ही उत्पाद-व्यय-भ्रौव्य में रहने वाला हूं । यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्ता है तो भी विचार कीजिए तो अशुद्धनय से यह जीव कर्ता है, यह भी व्यवस्थित होता है । यों जीव के बारे में कुछ से कुछ जो कुछ सम्भव है, विचारा जाय, चिन्तन किया जाय तो भी यह ज्ञानी जीव किसी भी परिणमन में किसी भी चर्चा में विमोह को नहीं प्राप्त होता और अपने इस शाश्वत् शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्रतीति से चिगता नहीं है ।

जीव का कर्तृत्व व अकर्तृत्व—इस प्रकार इस गाथा में दो बातें सिद्ध की गई हैं कि निश्चय से जीव जीवभाव का कर्ता है । दूसरी बात यह सिद्ध की गई है कि शुद्ध स्वभावदृष्टि से तो जीव अकर्ता है, किन्तु सर्वथा ही अकर्ता नहीं समझना । यह अशुद्धनय से अपने परिणमनों का कर्ता है । इस प्रकार जीव के कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों सिद्ध किए गए हैं । इसको समझकर हम अपने अकर्ता स्वभावी शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप की ओर झुकें । अपने को सर्व पर से भिन्न निरखकर इस मोह रागद्वेष के बन्धन को समाप्त करें, इस ही में अपना कल्याण है ।

कुब्बं सगं सहावं अता कत्ता सगस्स भावस्स ।

ण हि पोग्गलकम्माण इदि जिणवयणं मुणेयबं ॥६१॥

निश्चय से जीव की कर्तृत्वव्यवस्था—जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि की परम्परा में ऋषि संतों द्वारा चले आये हुए ये वचन मानना

ही चाहिए कि आत्मा अपने स्वभाव का कर्ता होता है, अपने भावों का कर्ता होता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है। निश्चय से जीव अपने भावों का ही कर्ता है। निश्चय में दो शब्द हैं निर् उपसर्ग है और चय चयन धातु से बना हुआ चय शब्द है। चय का अर्थ है संचय करना, इकट्ठा करना और निः का अर्थ है निकलना। जिसमें संग्रह करना खत्म कर दिया गया है उसे निश्चय कहते हैं। ऐसी दृष्टि जिस दृष्टि में दूसरे पदार्थों का मिलान न किया जाय उसे निश्चय कहते हैं। इस दृष्टि में केवल एक ही पदार्थ देखा जाता है। लोकव्यवहार में निश्चय का अर्थ निर्णय, यथार्थ, पक्का ज्ञान कहा करते हैं। यह फलित अर्थ है, शुद्ध अर्थ नहीं है। जैसे ज्ञान में वही-वही पदार्थ जाना जाय, दूसरी बातों का लाग-लपेट न किया जाय, जैसा है तैसा ही समझा जाय ऐसी बात में व्यवहारिक प्रमाणिकता ज्ञान में हुआ करती है, इसलिए उसका नाम निश्चय रखा गया है। निश्चय का शुद्ध अर्थ है—जहाँ अन्यभाव का संचय न किया जाय। निश्चय दृष्टि में किसी दूसरे पदार्थ का संग्रह नहीं किया जाता है। तब निश्चयदृष्टि से आत्मा किसका कर्ता है? यह पूछने पर दूसरा पदार्थ तो यहाँ दिख नहीं रहा है, तब यहीं उत्तर आयेगा कि यह आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है।

उत्पादव्ययधौव्यस्वरूपता के अवगम से रूपादेय मर्म—वस्तुस्वरूप में यही बात पड़ी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-धौव्यस्वरूप है, ऐसा जानने से हमें मर्म क्या मिला कि प्रत्येक पदार्थ खुद ही खुद में परिणामते हैं, किसी भी परपदार्थ से मुझ में कुछ नहीं आता है और न कभी किसी परपदार्थ से कोई बात मुझ में आती है। मेरा गुण, मेरी पर्याय मुझ से निकलकर किसी पर में नहीं जाता है, अर्थात् किसी भी प्रसंग में दूसरे का धर्म मुझ में आ जाय, मेरा धर्म किसी दूसरे में पहुंच जाय, यह बात नहीं हुआ करती है। इस शिक्षा के लिए वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, पर सब वर्णन तो सुनें और उसका प्रयोजन न जाने कि किसलिए यह बात कही गयी है तो यों समझिये कि प्रयोजन तीन बात अटपट हो जाया करती हैं। जैसे कोई प्रसंग चल रहा है और उसमें कुछ अटपट बोल दिया, बिना प्रयोजन के कोई शब्द बोल दिया तो वे सारी ही बातें अटपट हो जाती हैं।

प्रयोजन में कथन की सफलता—आप कोई बात कितनी ही भली कह रहे हों, पर मेरे खिलाफ है। मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है तो मुझे आपकी बात न जंचेगी। चाहे आपकी बातें ठीक हों, सबको भी जंच रही हों, पर मेरे को बिल्कुल अटपट जंचेगी, क्योंकि उनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं निकलता। जिसकी दृष्टि में जो प्रयोजन हो उसके माफिक बात हो तो उसके लिए वह ठीक है। प्रामाणिक है। शास्त्र के उपदेश की बात चल रही हो, बड़े ऊँचे तत्व का भी व्याख्यान चल रहा हो और जिसके प्रयोजन में केवल कमायी-कमायी ही बसी है, धन की और ही जिसका चित्त है, उपदेश हो चुकने के बाद नीचे जाकर पूछा जाय—कहो भाई आज क्या हुआ प्रवचन? तो बतायेंगे अजी आज तो कुछ पल्ले ही नहीं पड़ा, वहाँ तो ऐसी बातें हुईं जो किसी के काम की न थीं। देखो जो खुद के काम में न आयीं तो उसे किसी के काम की नहीं हैं ऐसा बता दिया, कोई भी प्रसंग हो, प्रयोजन से वह बात मिलान खाती है तब तो वह काम की हे, नहीं तो नहीं है।

प्रयोजक प्रतिपादन की ग्राह्यता पर एक दृष्टान्त—एक बार किसी मुनि से किसी संन्यासी का वादविवाद हो गया किसी तत्वचर्चा पर, तो अन्त में यह बात हुई कि किसी तीसरे से पूछो। वह तीसरा जिसे सत्य बतायेगा कि यह ठीक कहता है वह सत्य है। अच्छा भाई चलो तीसरे के पास चलें। जंगल का मामला था। तीसरे व्यक्ति को ढूँढने चले तो जंगल में भेड़ बकरी चराता हुआ एक गड़रिया मिला। उसी को कहा कि यह है तीसरा आदमी। इसके सामने अपनी-अपनी बात रखो। जिसको यह ठीक कहेगा वही ठीक है। संन्यासी ने बड़े-बड़े संस्कृत भाषा के श्लोकों को लेकर व्याख्यान झाड़ू दिया। अब उसे वह बेचारा गड़रिया क्या समझे? बाद में मुनि उपदेश देने लगे। मुनि भी प्रकाण्ड विद्वान थे, किन्तु साथ ही प्रतिभाशाली भी थे। बोले देखो, घर गृहस्थी

में कुछ धर्म भी करना चाहिए, कुछ अपनी आजीविका भी करनी चाहिए। यदि किसी भेड़ बकरी के कोई बीमारी हो जाय, टांग वगैरह टूट जाय तो उसका इलाज यों करवाना चाहिए बड़े विधान सहित उस गड़रिया के मतलब की रे १०-५ बातें मुनि ने बता दीं। गड़रिया की समझ में मुनि की सारी बातें आ गयीं। अब जब उससे पूछा गया कि किसकी बात ठीक रही तो उसने मुनि महाराज की बात को ठीक बताया। यों ही और आगे चले, गायें चराने वाला मिला, उसे भी उसके प्रयोजन के अनुकूल दस पाँच बातें मुनि ने बता दीं, संन्यासी की बातें उसे भी बेकार और अटपट-सी लगीं। तो जिसका जिसमें प्रयोजन नहीं मिलता उसके लिए तो वे बातें बेकार और अटपट-सी जंचती हैं।

अवगत दृष्टि के समर्थन पूर्वक अशेष प्रतिपादन—ऐसी ही बात दृष्टियों के सम्बंध में है जो जैसी दृष्टि को लिए हुए है उसे उस दृष्टि की बात समझायी जाय तो उसे समझ में आती है। यदि वह हठ में है तो पहिली उसकी बात को समर्थित करना चाहिए और फिर दूसरी बात कहना चाहिए। पहिले से ही किसीने उसके विरुद्ध कोई बात कह दी तो वह तो उसे सुनना ही नहीं चाहता। पहिले उसे यह विश्वास तो होने दो कि जो मैं जानता हूँ, उसे सही यह भी मानता है, यह भी ठीक है, इसका पहिले परिचय तो होने दो। परिचय हुआ करता है भावों से भाव मिलने का, कषायों से कषाय मिलने का, विचारों से विचार मिलने का। जिसे समझाना है पहिले उसके विचार के अनुकूल अपना विचार प्रदर्शित किया जाय तो फिर उसे अन्य कुछ बात भी समझायी जाय। यह दो नयों का आख्यान चल रहा है। व्यवहारदृष्टि से तो आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता हूँ किन्तु निश्चयदृष्टि से आत्मा अपने भावों का कर्ता है।

स्वहित की आवश्यकता—जब तक यह जीव अपने आपके हित की आवश्यकता न विदित करे, अपने आपको केवल अनुभव में न लाये, पर से असम्बद्ध जैसा है अमृत स्वचतुष्यात्मक तैसा अपने अनुभव में न लाये अर्थात् निश्चयरूप अनुभव में न लाये तब तक इस जीव को शान्ति का पथ नहीं मिलता। बाहरी परिग्रहों के प्रसंग में उनमें ममता रखकर जो मौज माना जाता है वह मौज नहीं है, आनन्द नहीं है, वह तो खेद है, दुःख है किन्तु मोह में दुःख ही सुखकर मान लिया जाय तो वह सुख ही जंचेगा। आत्मीय आनन्द तो केवल निजस्वभाव ही दृष्टि में रहे, अन्य के विकल्प न आये तो वहाँ उसे विदित होता है कि यह निश्चयदृष्टि का प्रताप है। हम अपने को दूसरी बातों से लदा हुआ देखा करें तो वहाँ इस आनन्द की गंध नहीं आ सकती है। दृश्यमान व ज्ञायमान संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। देह, कर्म, और ज्ञानादिक गुणपुञ्ज—इन तीनों का जो एक क्षेत्रावगाह है, एक ढंग है मिश्रण है, ऐसी स्थिति से बना हुआ यह जगत-जाल, मायाजाल, प्राणि समूह यह ही जिसके लिए सर्वस्व दिख रहा है वह शान्ति का कहाँ से मार्ग ग्रहण कर सकेगा? जो शान्त है उसका स्वरूप ही न समझें तो शान्ति कहाँ से मिलेगी?

नयदृष्टियों की अनुकम्पा—निश्चयदृष्टि की बड़ी अनुकम्पा है। और व्यवहारदृष्टि की भी बहुत बड़ी अनुकम्पा है। इस व्यवहारदृष्टि के पथ से चलकर हमने सब कुछ जाना, समझा और निश्चयदृष्टि का चमत्कार भी जब हम समझने को हुए तो उसमें इस व्यवहार पंथ का सहारा रहा और यह व्यवहारदृष्टि कितनी कृपा शील है कि यह निश्चयदृष्टि के निकट पहुंचाने पर अपना विनाश कर लेती है और इस निश्चयदृष्टि की भी कितनी बड़ी अनुकम्पा है कि यह अनुभव के निकट तक पहुंचाकर खुद का विनाश कर लेती है। अन्त में दोनों विकल्पों से रहित जब केवल स्वभाव ही अनुभव में रहता है तब उसे आत्मानुभूति कहते हैं। ऐसी पात्रता हम में तब जग सकती है जब हम वस्तु की सीमा, वस्तु का कर्तृत्व, वस्तु का स्वरूप अपनी समझ में रख सकते हैं। आगम और निगम—ये दोनों भी जहाँ एक रूप हो जायें बात तो वही प्रामाणिक है। आगम हुए शास्त्र और निगम हुआ यह अनुभव। आगम का अर्थ है जो आया, जो प्रभु की दिव्यध्वनि की परम्परा से आचार्यों से संतों से आये उसका नाम है आगम और जो अपने आप में से पैदा हो उसे कहते हैं निगम अर्थात् अनुभव। जहाँ अनुभव और शास्त्र का कथन—ये दोनों एक हो जाते हैं प्रमाणिकता तो वहाँ

होती है ।

ज्ञानबललब्ध उदासीनता का महत्व—कभी-कभी किसी उद्दण्ड अथवा जबरदस्त अपने घर के कुटुम्ब में से किसी से परेशान होकर कुछ बुद्धि व्यवस्थित-सी जंचने लगती है तो उपेक्षा कर के कहने लगते हैं कि कोई किसी का नहीं है, सब स्वार्थी हैं, मतलबी हैं, मगर उसकी यह आवाज दुःख से निकल रही है आनन्द से नहीं, इतना अन्तर है । ज्ञानी जनों की, योगी पुरुषों की आवाज भी ऐसी ही होती है । कोई किसी का नहीं है, सब अपने-अपने स्वरूप में परिणत होते हैं, यह उनकी आवाज समता और आनन्द से निकल रही है । तभी बड़े-बड़े उपद्रव होने पर भी, आक्रमण होने पर भी ये योगी पुरुष खेद-खिन्न नहीं होते हैं । कोई लाठी मारे, गाली दे, आक्रमण करे, कैसा भी अनुचित व्यवहार करे उस व्यवहार को भी ये ज्ञानी संत बुरा नहीं मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि ऐसी विशुद्ध जगी हुई है कि ये मेरा क्या करते हैं, इनका भाव है, इनका परिणमन है, इनकी कोई भी बात इनसे निकलकर मुझ में नहीं आती । रही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की बात तो पुद्गल और पुद्गल में तो निमित्तनैमित्तिक की बात दूर करना कुछ कठिन है । किसीने लाठी मार दी तो वह तो शिर पर ही पड़ेगी, उसे कैसे दूर करे लेकिन आत्मा की बात इससे हट सकती है । ज्ञानबल से ऐसा जान लिया कि यह शरीर जुदा है, मैं आत्मा जुदा हूँ, पर का इस आत्मा में तो कुछ नहीं लगा । यह तो अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप है, इतना ही मात्र मैं हूँ । लो वह उसके प्रहार से बच गया।

ज्ञानी का आशय—धन्य है वह ज्ञानी जिस ज्ञानी को अपना यह शरीर भी, जिसमें बंधा है कहीं छोड़कर जा नहीं सकता, वह भी ऐसा पर जंच रहा है, ऐसा भिन्न जंच रहा है जैसे और शरीर हैं और चीज है, ठीक उसी प्रकार से । कुछ यह बात सोचने में कठिन लग रही होगी । भला इतना भिन्न कैसे समझा जा सकता है? वस्तु का स्वरूप जिसके निर्णय में है, पदार्थ यह मैं उतना ही हूँ जितना मैं अपनी शक्ति से गुणों से तन्मय हूँ, इससे बाहर मैं कुछ नहीं हूँ और ये शरीर आदिक पुद्गल अणु भी उतने ही हैं जितना कि उनका चतुष्टय है, उससे बाहर इनका कुछ नहीं है । भले ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, परतंत्रता है जिसमें इतना बन्धन बन गया है । फिर भी स्वरूप दृष्टि से देखा जाय तो यह शरीर उतना ही भिन्न जंचेगा जितने कि अन्य सब पदार्थ हैं । जैसे दूध में पानी मिला दिया तो कितना विकट मिल गया, उसे अलग-अलग करना कठिन हो रहा है, फिर भी दूध-दूध में है और पानी-पानी में है, दूध और पानी अत्यन्त न्यारे-न्यारे हैं । जब ऐसी पदार्थ की स्वभावदृष्टि जगती है तब यह बोध जगता है—ओह! मैंने अनंतकाल मिथ्यात्व में यों ही गवां दिया भ्रम ही भ्रम में, जो मेरा न कभी था, न है, न होगा, जब-जब जो-जो मिला उस-उस समागम को मैंने अपनाया और मानता रहा कि यही मैं हूँ ।

आत्मदोषनिर्णय—भैया! जैसे आज यह शरीर है तो कुछ जरा अन्तर की आवाज से कुछ भीतर में निर्णय करके यह तो बतावो कि भीतर में क्या यह श्रद्धा पड़ी है कि यह शरीर ही मैं हूँ? अपनी बात खुद-खुद ही समझी जा सकती है । अपना निर्णय अन्तर में देखो—कहने की बात और होती है । कहने को कह दिया जाता है लेकिन बाह्य में धन वैभव का कोई नुकसान हो या कोई त्याग का समय हो या कोई प्रसंग हो उस समय में उन विभावों में लोभकषाय आ जाना यह तो इस बात का द्योतक है कि उसे अभी शरीर से मोह नहीं छूटा ।

कृपणों का देहमोह—भले ही कुछ कंजूस लोग ऐसे होते हैं कि शरीर से जितना चाहे श्रम कर डालें, जितनी चाहे सेवा कर डालें, जितना चाहे परोपकार कर लें, पर कभी पैसे के त्याग की बुद्धि न जगे । क्या ऐसे पुरुष को भी यह कहा जा सकता है कि इसके शरीर से मोह नहीं है? देखो ना कितनी ही जनता की सेवा करता है, कितना उपकार करता है, बोझ उठाता, धरता, शारीरिक श्रम कर के दूसरों का दुःख दूर करता तो इसे अपने शरीर से मोह नहीं है तभी तो अपने शरीर से इतनी मेहनत लिए जा रहा है, पर यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि शरीर तो वैभव से भी अत्यन्त निकट की चीज है । जिसे अत्यन्त भिन्न चीज

में भी लोग हैं, जो जड़ पदार्थ एक इत्र में भी नहीं है, बाहर पड़े हैं, जिन पर कुछ अधिकार भी नहीं है, कहो आज हैं कल न रहें, पाप का उदय आ जाय तो यों ही चोरी हो गयी, माल लुट गया, ऐसे कितने ही प्रसंग रोज-रोज सुनने में आते हैं। तो जो अत्यन्त भिन्न वस्तु है जब उसमें अत्यन्त ममता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे शरीर में ममता नहीं है।

योद्धाओं का देहमोह—योद्धा लोग रण में हँसी खुशी से अपने प्राण गवां देते हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि उन्हें शरीर में रंच भी ममता नहीं है? और रण में प्राण गंवाने से दिग्दिगान्तर में मेरी कीर्ति फैलेगी, लोग मुझे सही कहकर बड़ी सच्ची दृष्टि से देखेंगे, यह तो हमारा देशोन्नति के लिए कर्तव्य है, इसमें हमारी उन्नति है। यहाँ किसकी उन्नति मानी जा रही है? इस शरीर की, पिंडोले की। तो इस शरीर की ममता के ही कारण योद्धा लोग अपने शरीर का विनाश कर देते हैं तब क्या उनका शरीर से मोह न कहा जायगा?

ममता की परख—जब तक सर्वपर से विभक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निज की सुध न हो तब तक धर्मदृष्टि हुई है—यह बात कैसे कही जा सकेगी? सभी लोग अपनी-अपनी बात में अंदाज कर लो। कितनी कुटुम्ब से आत्मीयता है, कितनी वैभव में आत्मीयता है। शरीर की आत्मीयता का अभी विचार न करें। पहिले अत्यन्त भिन्न पदार्थों की छांट कर लो कि मेरी इन पदार्थों में कितनी आत्मीयता लगी हुई है? जब भिन्न पदार्थों में अहंकार और ममकार बना हुआ है तो यह तो पूर्ण निश्चित है कि इसको शरीर से भी भेदविज्ञान नहीं जगा है। हाँ बाह्यपदार्थों में भी ममता न हो तब शरीरों पर प्रयोग कर के देखो कि मुझे इसमें ममता है अथवा नहीं है। यदि बाह्य पदार्थों में इतनी घनिष्ठ आत्मीयता है तो अपने को अभी एक मिथ्यात्व की दशा में जानकर कुछ अपने पर खेद होना चाहिए। यह व्यर्थ की दृष्टि, व्यर्थ का ममत्व क्यों हो रहा है? क्यों मैं अपनी बरबादी अपने आप ही किए जा रहा हूं? उस पर खेद होना चाहिए और उस अपराध को मिटाने के लिए जो उपाय है—सत्संग करना, ज्ञानार्जन करना इन उपायों को अविलम्ब अधिक उपयोग के साथ किया जाना चाहिए।

स्वरूपपरिचय—भैया! निर्मोहता की झल्क जब आने को होगी उससे पहिले यह जीव में निश्चयदृष्टि का विज्ञान इसके उत्पन्न होगा ही। यह मैं आत्मा केवल अपने भावों को किया करता हूं। यह मैं आत्मा जो मुझ में परिणत हुए भाव बनते हैं उन भावों को ही भोगा करता हूं। इसी कारण यह मैं अपने गुणपर्यायों का स्वामी हूं, अधिकारी हूं, ऐसा निज एकत्व का परिचय होने लगता है जब निर्मोहता की अवस्था आने को हुआ करती है। तो यह एक स्थूल उपाय सब ही जानते हैं। निर्मोहता वहाँ ही तो हुआ करती है जहाँ यह बोध हो जाय कि मेरा दूसरा कोई नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूं। मैं दूसरे का आसरा तकूं तो उससे कुछ सफलता मिलने को नहीं है। मैं अपने आपके ही मन को समझा लूँ, अपने आप में ज्ञानबल बढ़ा लूँ, अपने आपको ही सन्तुष्ट कर लूँ तो वह उपाय मेरी शान्ति के लिए सही है। बाह्य पदार्थों में मुझ में कुछ आता नहीं है, मेरा कहीं कुछ नहीं है ऐसा स्पष्ट निर्णय रखना चाहिए।

जगजाल में शान्ति का अनुपाय—जरा गंभीरता से अपने हित की दृष्टि कीजिये। जो भी समागम आज मिले हैं वे सब जरूरत से ज्यादा हैं। मोह में तीन लोक का वैभव भी मिल जायतो भी वह कम है, पर व्यवहारिक दृष्टि से देखो जितना [नो कुछ भी मिला है वह सब जरूरत से कई गुणा ज्यादा है।] जिनके पास आप से बहुत कम धन है क्या उनका गुजारा नहीं होता है? मान लो जितना जो कुछ आपको मिला है उससे कई गुणा कम आपके पास धन होता तो क्या गुजारा न चलता? एक दृष्टि भर बनाने की बात है। यथार्थ ज्ञान बनाकर अपने में सन्तोष मानना चाहें तो सब निभ सकेगा, किन्तु परपदार्थों के संचय की बुद्धि मन में हो तो वहाँ शान्ति का मौका नहीं मिल सकता, चाहे वह कैसी भी स्थिति हो। क्या हो रहा है इस जमाने में? जो करोडपति हैं वे भी चैन से नहीं बैठ पाते हैं, वे भी निर्विकल्प धर्मपालन में नहीं लग पाते हैं। तो इस लौकिक वैभव के हिसाब से हम क्या

सोचें? कैसे हम महान बन पायेंगे? यह सब मायाचार है, धोखा है, इसमें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति मिलेगी तो एक शुद्धज्ञान में, आत्मज्ञान में, उपेक्षाभाव में। शान्ति का उपाय कोई दूसरा नहीं है। यह बात हमें निश्चयदृष्टि से अधिक प्राप्त होती है, क्योंकि इसमें चय का काम ही नहीं है। यहाँ नयदृष्टि से अपने स्वरूप को निरखा जा रहा है कि निश्चय से यह जीव अपने भावों का ही कर्ता है। पुद्गल कर्म आदिक किसी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं है। ऐसा निश्चय दृष्टि से आगम में ऋषिसंतों ने बताया है।

कम्मं पि सगं कुब्बदि जेण सहावेण सम्मम्प्याणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥

निश्चयदृष्टि से कर्तृत्व का निर्णय—इस गाथा में निश्चयदृष्टि से जीव किसका कर्ता है और कर्म किसका कर्ता है, यह बात कही गयी है। निश्चय से देखा जाय तो एक ही पदार्थ में अभिन्नकारकता दृष्टि में आती है। परम शुद्ध निश्चय से तो कारकता का विकल्प ही नहीं उठता है, पर जहाँ कारकता भी न हो और अद्वैत दृष्टि की जाय वहाँ क्या परिस्थिति होती है, इसका वर्णन इस गाथा में है। कर्म अपने भावों से अपने परिणमन से अपने को करते हैं और जीव अपने परिणमन से अपने परिणामों को करते हैं। उपादान दृष्टि से जो पदार्थ जिस रूप परिणम रहा है उस ही का उसे कर्ता कहा जाता है।

जीव और अजीव तत्त्व—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि यह पदार्थ वस्तुतः कितना है, किसका अधिकारी है, कैसा परिणमन है, कहाँ तक इसका विस्तार है—ये सब बातें निरख लेनी चाहिये। एकत्वदृष्टि कहो, उपादानदृष्टि, निश्चयदृष्टि, अद्वैत दृष्टि ये सब इस प्रसंग में एकार्थक शब्द हैं। यहाँ दो तत्व रखे गये हैं जिनके सम्बन्ध में निर्णय किया जा रहा है। जीव और कर्म मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्वों में मूल तत्व दो हैं—जीव और अजीव। शेष के ५ तत्व पर्यायरूप हैं। पर्यायरूप में तो इन सात तत्वों को ही रख दिया गया है क्योंकि निर्णय का प्रसंग है और जीव और अजीव तत्व में भी जहाँ इन ५ पर्यायोंरूप बना करता है ऐसी दृष्टि रखनी है, वहाँ शुद्ध स्वभाव नहीं देखा गया है, लेकिन इन सात तत्वों को जानकर भी प्रयोजनभूत शुद्धस्वभाव का दर्शन उपादेय है। परन्तु, जिसके हम भेद करेंगे, उसकी उस रूप में पहिले से भावना बनायें और जिसके भेद करने चलें तो वह भी एक शुद्धरूप के देखने पर न बन सकेगा। यहाँ जीव का अर्थ जीव है और अजीव का अर्थ कर्म है।

जीवाजीवविषयक पञ्च तत्त्व—जीव में कर्म का आना इसका, नाम आसव है और जीव में कर्म का न आना, इसका नाम संवर है। जीव में जो कर्म पहिले से बंधे हुए हैं उनका एकदेश छूटना इसका नाम निर्जरा है और जीव से कर्मों का बिल्कुल जुदा हो जाना इसका नाम मोक्ष है। ये पांचों पर्यायें जैसे अभी जीव और कर्म ऐसी द्वैत दृष्टि रखकर बतायी हैं ऐसे ही केवल जीव में भी ये पाँच पर्यायें देख सकते हैं।

जीवाजीवविषयक पञ्च तत्त्व—यद्यपि ये पांचों पर्यायें एक दूसरे का निमित्त पाये बिना नहीं हुई हैं, लेकिन हों, फिर भी परिणमन एक का एक में निरखा जा सकता है। जैसे दर्पण में मुख देखा तो इस मुख के निमित्त से दर्पण में वह छाया पड़ी है, प्रतिबिम्ब पड़ा है, इतने पर भी मुख को नहीं देखे, केवल छाया को देखे, यह तो हो सकता है। या किसी वृक्ष की उसमें छाया पड़ी है तो हमने वृक्ष को नहीं देखा, उसकी छाया को देखा, ऐसा तो हो सकता है। इसी प्रकार यद्यपि जीव में ये रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं कर्मोदय का निमित्त पाकर, लेकिन इन कर्मों के विषय में कुछ तर्क विर्तक न करें, केवल जीव भाव को ही नजर में लें तो क्या ले नहीं सकते? यों ही इस जीव में भी पांचों पर्यायें बर्नीं आस्त्र, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष और कर्म में भी ये पाँचों पर्यायें बर्नीं। तब वहाँ यह कहना होगा ना कि इस जीव में जो रागादिकभाव आये वे आस्त्र हैं। ज्ञानबल से जीव में जो रागादिक भाव न आ सकें, यह सम्भव है। जीव में रागादिक भाव बंध जायें, इसे यह जीव ग्रहण करे, हठ करे वह बंध है। जीवों में से रागादिक

भाव शिथिल हो जाये, दूर होने लगे, नाश होने लगे यही निर्जरा है और विभाव बिल्कुल न रहें इसका नाम मोक्ष है। देखो ये सब काम जीव ने अपने में अपने परिणमन से किया ना कि कर्म के परिणमन से किया?

कर्मविषयक पञ्च तत्त्व—अब कर्म की बात कर्म में देखो—कर्मद्रव्य में कर्तृत्व आना, यह आम्रव है। कर्म में कर्मत्व बना रहना यह बंध है। कर्म में कर्मत्व आना रुक जाय यह सम्वर है। कर्म में कर्मत्व अर्थात् स्थिति अनुभाग का खण्डन होना निर्जरा है, और कर्म में कर्मत्व को दूर हो जाना यह मोक्ष है। यह पंचर्यायों का वर्णन तीन प्रकार से हुआ ना, उभयदृष्टि से, जीवदृष्टि से और कर्मदृष्टि से। अब यहाँ जब व्यवहारदृष्टि लेते हैं तो जीव का और कर्म का परस्पर आम्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष निरखे जाते हैं और जब निश्चयदृष्टि लेते हैं तो जीव में ही जीव की पर्यायें, कर्म में कर्म की अवस्थाएँ ये जुदे-जुदे अद्वैत में निरखी जा रही हैं।

कर्मपरिणतिविषयक अभिन्न कर्तृकरणकर्मता—अब कर्मों की विशेषरूप से बात निरखिये कि कर्मत्व रूप बर्त रहे पुद्गल स्कंध हैं ना, इस दृष्टि से कर्म का कर्म ही कर्ता हुआ, कोई दूसरा उन्हें कर्मरूप नहीं परिणमाता। ये कार्माणवर्गणाएँ ये द्रव्य कर्मत्वरूप गमन के लिए कर्मत्व के लिए कर्मत्व दशा को पाने की शान्तिरूप से साधक कौन हुआ? ये कर्म ही हुए। तो यह कर्म ही साधन बना, करण बना। निश्चयदृष्टि से बतायें तो वहाँ अभिन्न साधकपना ही नजर में आयगा। तो ये कर्म अपने में ही कर्मत्वरूप से बन सकें, ऐसी शक्ति पड़ी हुई है। शक्तिरूप से यही स्वयं अपने आपके कर्मबंधन का कारण बन गया। अब यहाँ कर्म ने क्या किया? तो प्राप्त जो कर्मत्व परिणमन है वह कर्मत्व ही हुआ ना, कर्म में कर्म अवस्था को पाया, अतएव यह ही कर्म कर्म बना, कर्म कारक बना।

कर्मविषयक अभिन्न अपादानकारकता—अब ऐसे कार्माण द्रव्य में कर्मत्व आये तो किस प्रकार से आये, इसमें ढंग क्या बना? इसमें जो पहिली अकर्तृत्व स्थिति थी उसका विनाश हुआ और कर्तृत्व स्थिति आयी। यह कार्माणवर्गण कर्मरूप बनने से पहिले कर्मरूप न थी। अब कर्मरूप बनी है तो अकर्मत्व स्थिति का तो विलय हुआ और कर्मत्व स्थिति आयी। इस प्रसंग में हुआ क्या? वह तो ध्रुव ही रहा ना द्रव्य। उस ध्रुव द्रव्य में से यह कर्मत्व अब निकलने को हुआ तो कर्मदशा उदित हुई, पर जो मूलभूत द्रव्य है यह विनष्ट नहीं हुआ, इस कारण उपादान भी यह द्रव्यकर्म हुआ। जैसे वृक्ष से पत्ता गिरा, हुआ क्या वहाँ? पहिले सपत्र दशा थी वृक्ष की, अब इस वृक्ष की अपत्र दशा बनी तो अपत्र दशा में भी वही वृक्ष था और पत्ते का निकलना हुआ तब भी वही का वही वृक्ष ध्रुव खड़ा है। तो जो ध्रुव रहा करे जिससे व्यक्ति होती है उसे अपादान कहते हैं। तो ध्रुव कौन है? कर्मत्वसहित बनने पर वह वही कर्म है यों अभिन्न अपादान कारक भी कर्म हुआ।

कर्मविषयक अभिन्न सम्प्रदानता—यह कर्म कर्मरूप से किसलिए परिणमा, किसके लिए परिणमा, उसे गरज क्या थी, प्रयोजन क्या था जो पड़ा हुआ था और बन गया। प्रयोजन क्या था? प्रयोजन की बात, मतलब की बात, खुदगर्जी की बात, ये चेतन मनुष्य आदिक ढूँढ़ा करें, कल्पना में आयी बात, मन की बात, लेकिन जो एक-एक साधारण प्रयोजन है जिसमें खुदगर्जी की बात घुसी हुई है वह साधारण रूप से प्रयोजन प्रत्येक द्रव्य में यही है कि उस द्रव्य की सत्ता बनी रहे। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन का प्रयोजन इतना ही है कि उस पदार्थ का अस्तित्व बना रहे। न परिणमे तो अस्तित्व न रह सके। सत्ता का स्वरूप ही ऐसा है कि वह बने, बिंगड़े और बना रहे। तो कर्मरूप परिणाम हुआ तो क्या, वह कार्माणवर्गण अकर्मरूप परिणमा हो तो क्या, जिस चाहे रूप परिणमे, उन सब परिणमनों का प्रयोजन द्रव्य का अस्तित्व कायम बनाये रखना है। उस समय जो कर्म में कर्मपरिणाम रूप उत्पन्न हुआ है उस कर्म के द्वारा आश्रयमाण यह कर्म ही है, इसीलिए सम्प्रदान यह कर्म है।

सम्प्रदानता की स्थितियाँ—सम्प्रदानता को समझने के लिए ये दो दृष्टियाँ इसमें गर्भित हैं। एक तो इससे सिद्धि क्या होती

है, किसलिए होती है। दूसरी बात ये कर्म किसका आश्रय करते हैं? आश्रयमाण कौन हुआ? जैसे यह कहा जाय कि इस धर्मात्मा ने गरीब के लिए कम्बल दिया तो काम क्या हुआ? कम्बल दिया। उस कम्बल ने अब आश्रय किसका लिया? उस कम्बल के द्वारा आश्रयमाण कौन है? वह गरीब है। तो इसका सम्प्रदान गरीब हुआ, ऐसे ही कर्म में जो कर्मत्वरूप परिणमन होता है वह परिणमन आश्रय किसका ले रहा है? उस ही द्रव्य का। तो वह कार्माणवर्गणा रूप द्रव्य ही उस कर्मत्व का सम्प्रदान हुआ। इसी प्रकार वह कर्मत्व जो परिणमन है वह किस आधार में हुआ, कैसे हुआ, उसका आश्रयमाण परिणाम का आधार देखो तो वही कर्म है।

कर्मविषयक अभिन्नाधिकरणता—अब आधार देखिये—कर्मत्व हुआ? कर्म में कर्मत्व हुआ। कोई पूछे कि तुमने यह प्रभुभक्ति कहां की? तो लोग यही कहेंगे कि मंदिर जी में की। तो द्वैत दृष्टि वाली यों भिन्न चौज दिख रही है, उसने मंदिर में प्रभुभक्ति की, और किसी समझदार को, तत्त्वर्मज्ज को यह दिख रहा है कि इस आत्मा ने आत्मा में प्रभुभक्ति की, मंदिर में नहीं की। प्रभुभक्ति का आधारभूत परमार्थ से यही आत्मा अधिकरण है। यों ही कर्म का जो कर्मत्व आया है उस, कर्मत्व का आधार यही पुद्गल कर्म है। यों अधिकरण भी अभिन्न रूप से यही कर्म हुआ।

अभिन्नकारकता का एक उदाहरण—एक सांप ऐसे ही सीधा पड़ा हुआ था। वह अब गोल बनकर अपने आप में समा गया अर्थात् अपना एक गोल घेरा बना लिया दोहरा तेहरा। जैसे कि सपेरे लोग जब बीन बजाते हैं और सर्प का खेल करते हैं तो वह सांप पूरा घेरा बनाकर थोड़ा फन उठाकर रह जाता है। उस सांप ने क्या किया? गोल बना लिया अपने को, कुँडली बना ली, तो इस सांप ने किसको बनाया? अपने को बनाया है? और इस सर्प ने किसकी शक्ति से ऐसा बनाया? अपनी शक्ति से ऐसा बनाया। किसके लिए ऐसा बनाया? खुद के लिए बनाया, और किससे बनाया? अपने शरीर से बनाया। पहिले वह सीधी दशा में था, उस दशा का परित्याग कर के अब यह गोल दशा में आ गया। इतने पर भी वह शरीर वही है ना? सो ध्रुव है यह अपादान हुआ, और यह गोल किसमें बनाया? कहां बनाया? अपने में बनाया। तो जैसे इस सर्प ने अपने गोलाकार रूप में परिणमन का काम किया तो वहाँ सब अभिन्नकारक हैं, ऐसे ही जानना कि इन द्रव्यकर्मों ने जो भी कर्मत्वरूप परिणति प्राप्त की वह कर्म ने कर्मशक्ति से, कर्म के लिए, कर्म में कर्म से कर्म को किया। यह निश्चयदृष्टि से चर्चा चल रही है।

अभिन्नकारकता का द्वितीय उदाहरण—किसी महिला ने भोजन बजाया, कढ़ी पकाया तो उस कढ़ी ने क्या किया? अपने आप में अपनी शक्ति से अपनी कर्चाई अवस्था को त्यागकर एक पक्की अवस्था में आयी। वहाँ महिला ने भी कुछ किया क्या? व्यवहार में यों ही दिखता है, पर निश्चय से कढ़ी को महिला ने नहीं पकाया। सर्वत्र यही बात है। लोग तो सभी प्रसंगों में अपनी ही चेष्टा करते हैं और भ्रम में ऐसा कहा करते हैं कि मैंने अमुक को यों किया। भिन्न कारक में द्वैतदृष्टि को सृष्टि है। तो इस प्रकार अभिन्न पदकारक रूप से अवस्थित यह कर्म किसी अन्य कारक की अपेक्षा नहीं करता।

अभिन्नकारकता के अन्य उदाहरण—जैसे किसी पुरुष ने तबला बनाया, क्या किया? उसने हाथ के थपेड़े लगाये, पर उस तबला में से जो आवाज निकली, यह तबला क्या अपने में आवाज रूप परिणमने के लिए भी किसी की अपेक्षा रखता है? थपेड़ लग गयी, अब क्या यह तबला अपनी आवाज उत्पन्न करने में किसी की अपेक्षा रखता है? इसका दृष्टान्त दिया है दिव्यध्वनि। प्रभु की दिव्यध्वनि स्वयं खिरती है। किसी की प्रेरणा से, किसी की जबरदस्ती से नहीं खिरती है। व्यवहारदृष्टि में ऐसा लगेगा कि भव्य जीवों के पुण्य की ठोकर लगी, ठीक है, भव्यों के पुण्योदय का भी कारण रहा, और-और कुछ भी कारण ढूँढ लो, फिर भी जब प्रभु का शरीर एक दिव्यध्वनिरूप परिणम रहा है उस परिणमते हुए की स्थिति में वह किसी की अपेक्षा रखता है क्या? यह मर्म की बात अतीव सावधानी से समझने में ठीक जंचेगी।

अभिन्नकारकता का एक और अन्य उदाहरण—एक पुरुष ने गाली दी और यह दूसरा पुरुष कुछ होने लगा। व्यवहारदृष्टि से

तो यों कहा जायगा कि इस गाली देने वामेन ख्वामख्वाह इसे क्रोधी कर डाला, लेकिन इस गुस्सा करने वाले ने अपने गुस्से के परिणमन में किसी की अपेक्षा नहीं की। भले ही वहाँ गाली देने वाला निमित्त बन गया। इतना मानने के बाद अब यहाँ परिणमन विधि से देखो तो इस क्रोध करने वाले ने क्या क्रोध करने के लिए किसी की अपेक्षा की। यह तो होगा।

जीव में अभिन्नषट्कारकता की दृष्टि—इस चीज को और गम्भीर दृष्टि से सोचने पर यह व्यवस्थित होना है कि इस कर्म ने जो कर्मत्वरूप परिणमन किया इस परिणमन में किसी की अपेक्षा नहीं की। हाथ लगा मृदंग में, इसे न तकना, यह तो दूर की बात कही जा रही है, भीतर की बात नहीं है, वस्तु के बाहर की बात भी दिखती नहीं है अभी। क्योंकि सब भीतरी चीजें सभी खोजी जा रही हैं, निश्चयदृष्टि की जा रही है, यह तो कर्म के सम्बंध में कर्म का कर्मरूप परिणमन की बात निश्चयदृष्टि से कही गयी है। अब जीव के सम्बंध में ऐसी पट्कारकता देखो तो वहाँ भी यह नजर आयगा कि इस जीव के जीव को किया, परिणममान अपनी शक्ति से किया, अपने लिए किया, अपने से किया, अपने में किया।

जीवद्रव्य में अभिन्नषट्कारकता के अवगम की सरलता—इस जीवद्रव्य के सम्बंध में इस पट्कारकता का वर्णन जब किया जायगा तब इसकी बात बहुत अधिक समझ में आयगी। कर्मों की बात समझने में कुछ हैरानी हुई होगी और हैरानी होने का कारण यह है कि कर्म एक तो कुछ दिखते भी नहीं हैं, स्पष्ट समझ में भी नहीं आते। उसकी अपेक्षा अगर इन चौकी, चटाई, हरी की बात कही जाती तो ठीक समझ जाते। जैसे अभी उदाहरण में सांप की बात कही तो वह इस्ट समझ में आ गयी होगी। ये कर्म दिखते नहीं हैं, सूक्ष्म हैं और फिर उस कर्म में कुछ दौड़ लगाये बिना, चुपचाप उसी को कुछ कह डाला, यह बहुत गुप्त बात-सी लगी कही गयी है और चुपचाप पद्धति से कही गयी है, उसका कुछ भी विस्तार नजर में नहीं आया, अतएव कर्म में जो पट्कारकता का वर्णन किया है यह कठिन सा लगा है। लेकिन जीवों के विषय में यहीं सब बातें बहुत साफ-साफ समझ में आयेगी। और वे सब बातें रुचिकर भी होंगी। अंतरङ्ग भी कह उठेगा कि बात बिछल ठीक कही जा रही है, यह तो इसमें गुजर रहा है। जीवों की बात धर्मादिक द्रव्यों की तरह कठिन है थोड़ीसी कि उस जीव में अभिन्नषट्कारकता का बता दी जाय, लेकिन वह स्वयं की समझ में यों आयगी कि खुद की चर्चा है, खुद की खुद के अनुभव में है, खुद पर गुजर रही है। अतएव यह जीव यद्यपि कर्मों से अत्यन्त सूक्ष्म है, कर्म तो फिर भी पुद्गल हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिंड हैं, किन्तु यह जीव तो रूप, रस आदि से रहित अमूर्त है, फिर भी जीव की कोई बात कही जाय तो वह शीघ्र अपनी समझ में उतरती है। अब उस जीवद्रव्य में से यह पट्कारकता अर्थात् जीव किसे करता है, किसके द्वारा करता हूँ यह कौन करता है, किसके लिए करता है, किसमें करता है? यह पट्कारकता बतायी जायगी।

सम्बन्धनामक कारक के अभाव का कारण—यहाँ दृष्टि में एक खास बात लेनी है कि इन पट्कारकों में सम्बन्ध नाम का कारक नहीं रखा। जैसे कहते हैं ना मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरा देह, मेरा घर यह तो किसी कारक में नहीं आया, क्यों नहीं आया? ये सब बातें बिल्कुल स्व हैं, गप्प हैं और गप्प वाली बात से किसी का कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो वस्तु की बात वस्तु को दिखाई जा रही है।

जीव की अभिन्नकर्तुकर्मरूपता—जिस प्रकार कर्म में कर्म का अभिन्नकारकपना बताया है इसी प्रकार जीव में भी अभिन्नषट्कारकता होती है। यह जीव जो असंख्यातप्रदेशी अपनी गुणपर्याय में तन्मय सद्भूत द्रव्य है उसमें जो भी रागद्वेष आदिक भावपर्यायें होती हैं, उन भावपर्यायों के रूप से प्रवर्तमान हो कौन रहा है? यहीं जीव पदार्थ। इस कारण उन कर्मों का स्वतंत्र कर्ता होने से अर्थात् रागद्वेष आदिक भावकर्म प्रवर्तमान होने से यह जीव कर्ता है, और इस जीव में उत्पन्न हुए विभाव इस जीव के कर्म हैं। इस जीव के द्वारा प्राप्त करने योग्य भाव क्या है? इस जीव ने क्या पाया? जीव का विभाव जो पाया जाता है, जिसे पा

लिया गया हो उसको कर्म कहते हैं। यों जीव ही कर्ता है, जीव ही कर्म है।

पर के कर्तृत्व की असंभवता—अपने आप में इस मर्म को घटाते हुए सुनने से स्पष्ट हो जायगा यह मैं जो इस देह पिंड के भीतर अरूप विराजमान हूँ, बड़े सुरक्षित मजबूत किले में रहता हुआ पुरुष जैसे सुरक्षित है, ऐसे ही यह मैं निश्चय से तो अपने स्वरूप के किले में बैठा हुआ सुरक्षित हूँ और देह में रहता हुआ भी अंतः सुरक्षित हूँ, ऐसा यह मैं कर किसे रहा हूँ? अपनी-अपनी बात सोचो। जिसमें जैसे भाव हो रहे हैं, जिसकी जैसी विचित्रता है अपने उन भावों को कर रहा हूँ। इसके आगे और क्या कर रहा हूँ? शास्त्र सुनने बैठे हों तो वही भी अपने आप में जो भी पक्ष और विकल्प हुए हैं उन विकल्पों को बना रहा हूँ। ये वचन आदिक तो उनका निमित्त पाकर निमित्त का निमित्त परम्परा रूप से ये वचन निकल जाते हैं, इन वचनों का मैं कर्ता नहीं हूँ। ये तो जिह्वा, ओंठ, कंठ आदिक का निमित्त पाकर ऐसे हो ही जाते हैं। यदि कोई वैज्ञानिक ऐसा ही मुंह, ऐसा ही ओंठ, कंठ, जिह्वा आदि बना ले और उनको इस तज प्रेरित करे कि वटन स्टाप वैगैरा भी लगा सके तो सम्भव है कि वहां पर भी वचन निकल जायेंगे। वह तो पुद्गल अगल का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। न बन सकने की बात और है। इन वचनों का मैं कर्ता नहीं हूँ और कभी किसी भावुकता में कुछ से कुछ हस्त उठाये, इशारा करें, इन सब क्रियाओं का भी कर्ता मैं नहीं हूँ। केवल एक अपने भावों का कर्ता हूँ, विकल्प कर रहा हूँ।

अपने ही कर्तृत्व की मुक्तता—सब अपनी-अपनी सोचते जाइए। कितना ही तृष्णावश वैभव संचय का विचार किया जा रहा हो, वहाँ भी आप वैभव का कुछ नहीं कर रहे हैं। केवल एक विकल्प का विस्तार, बनाया जा रहा है। किसी भी परिस्थिति में कोई जीव किसी अन्य द्रव्य का करने वाला नहीं होता। निमित्त पाकर अस्य द्रव्यों में कुछ परिणति हो जाती हैं तो उपचार से उसे कर्ता कह दिया जाता है। वस्तुतः जिस परिस्थिति के रूप से जो प्रवर्तमान हो वही कर्ता कहलाता है और उस द्रव्य में जो परिणति चल रही हो वही कर्म कहलाता है। यों प्रत्येक पदार्थ अपनी ही अवस्था के करने वाले हैं और उनका कर्म उनकी अवस्थामात्र है। इन विभावों को इस जीव ने किया किस शक्ति के द्वारा? वह शक्ति भी किसी दूसरे द्रव्य से खींचकर प्रयोग की गई हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जो भी विभाव हो रहा है उस विभावपर्यायरूप से गमन करने की परिणमन की शक्तिरूप यह स्वयं जीव है। इस जीव ने राग किया। किसे किया? जीव की ही किसी दशा को किया। किस शक्ति के द्वारा किया? जीव में ही ऐसी परिणमन की शक्ति है उसके द्वारा किया। यों इन विभावों के करने का करण भी यह जीव स्वयं है।

वस्तुगतता—भैया! यह चर्चा बड़ी सावधानी से सुनने की है। कहीं नय की दृष्टि चूक न जाय। हालांकि ये विभाव द्रव्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर ही हो पाये हैं। केवल एक जीव में ही उपाधि बिना, परसम्पर्क बिना होता हो ऐसा नहीं है। फिर भी जब निश्चयदृष्टि लगाते हैं तो वहाँ यह दिख रहा है कि ये सब स्वतंत्ररूप से प्रवर्तमान होकर जीव के द्वारा हो रहे हैं। इसमें पर का सम्पर्क नहीं है। किसी घर के ही बच्चे को किसी ने पीट दिया और वह बच्चा रो रहा है तो क्या वह मारने वाले की शक्ति से रो रहा है? वह अपनी ही शक्ति से अपने ही आप में अपना परिणमन कर रहा है। भैया! निश्चयदृष्टि से जितना तत्व तकना है उतने तत्व को देखने के लिए कहीं बाहर अगल-बगल झांकने की जरूरत नहीं है कि कौन उपाधि है, कौन निमित्त है? इस तरह के विकल्पों को उपयोग में अभी स्थान न दे। वस्तु में वस्तुगत बात देखी जाने को निश्चयदृष्टि कहते हैं और वस्तु में वह भाव स्वभाव तो न था, किन्तु हो गया, यों अगल-बगल तक कर निर्णय करने का नाम व्यवहार दृष्टि है।

जीव में अभिन्नकरण कारकता—यह जीव ही स्वयं अपने परिणमन में साधकतम है। जैसे कोई मनुष्य बिना हाथ लगाये पद्मासन से बैठ गया तो बतावो इस पद्मासन का करने वाला कौन है? यह मनुष्य, और किया किसे? अपने अंग को। किसके द्वारा किया? अपनी शक्ति और किसलिए किया इसमें सुख दुःख आदिक जो परिणमन होते हैं वे खुद के लिए होते हैं, और किससे किया?

इस देह से । पद्मासन न लगाये तब भी यह देह ध्रुव है, लगाये तब भी यह देह वही की वही है । इस ध्रुव देह से एक पद्मासन की अवस्था बन गयी । और किसमें बनी? यह काम इस देह में ही तो हुआ, यहाँ कोई दूसरा कर्ता नहीं, कर्म नहीं, करण नहीं, सम्प्रदान नहीं, अपादान नहीं अधिकरण दूसरा नहीं । एक मोटा दृष्टान्त है । यों ही जीव के भाव परिणमन का करने वाले दूसरे कर्म करण आदिक तो नहीं है । यह जीव अपने ही उस प्रकार के पर्यायरूप परिणमन की शक्ति से पर्यायरूप परिणमन को किया करता है

।

नयों के अविरोध का ज्ञानधारम—जैसे जिन दो भाइयों में बड़ा घनिष्ठ प्रेम है । किसी एक काम को करते जा रहे हैं । वहाँ किसी से कहीं कुछ क्रिया हो गई, कुछ काम कम बन रहा तो दूसरे भाई को भी विरोध नहीं है, अविरोध रहते हैं, इसे कहते हैं हिलमिलकर एक कार्य को पूरा कर लेना । कोई प्रधानता से कर रहा, कोई गौण रूप से कर रहा, फिर भी चित्त में मलिनता नहीं है । ऐसे ही वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में ये निश्चय और व्यवहारन्य दोनों कार्य कर रहे हैं । हितमार्ग में मोक्षमार्ग में यह निश्चयन्य कुछ अधिक रूप से कार्य कर रहा है, पर अविरोध है, और किसी-किसी प्रसंग में यह व्यवहारदृष्टि भी उस निश्चयदृष्टि के लक्षण का पोषण कर देती है । जैसे अय परकृत विभावो तुम अलग हटो, ऐसा साहस इस व्यवहारदृष्टि ने कराया है, और अन्तः में सहज ज्ञानानन्दस्वरूप रहो, यह भीतर से निश्चय साहस दे रहा है ।

मूढ़ता में मूर्छा का भार—यह जीव केवल अपने ही परिणमन का कर्ता है । अब सोच लीजिए—जितना मूर्छा का भार बना रखा है और इतना ही नहीं किन्तु उसमें इतना पक्ष-पात बढ़ मया है कि ये ही परिजन कुटुम्ब २-४ जीव ये ही सब कुछ मेरे हैं, और थे विभाव वैभव जो कुछ पाया है वे सब मेरे हैं । ये जायेंगे कहाँ से? इन्हें कौन छुड़ा लेगा? रजिस्ट्री ऑफिस में दर्ज है, मूनिस्पिल्टी में नाम चढ़ा है । मैं इन दुकान मकान आदि का मालिक हूँ, ये तो मेरे ही बनकर रहेंगे । ऐसी कुछ भीतर में जो दृष्टि जमी है ना अथवा यह पुरखों से चला आया है, इसे कौन छीना लेगा, यह तो मेरा ही बनकर रहेगा । मेरा जी वैभव है वह सब बैंक में जमा है । बैंक में अपने निजी ताले में रखा है, हम सब कुछ बड़ी सावधानी से बड़ा पक्का काम किया करते हैं । भाई यह सब ठीक है । पर यह तो बतावो कि शरीर पर भी कुछ आपका पक्का काम चल सका है या नहीं? जायगा कहाँ यह देह? मैं ठीक समय पर पथ्य का भोजन देता हूँ, कसरत करता हूँ, भूखों कम खाता हूँ । जायगा कहाँ यह देह? और ये सब कल्पना की बातें हैं । सब कुछ चला जायगा । धीरे-धीरे जाय या एकदम ही एक सेकेण्ड में, चला जाय । रहेगा क्या?

धर्मदृष्टि बिना मनुष्यों की पशुओं से अविशेषता—यह जीवद्रव्य समस्त पदार्थों से निराला अत्यन्त स्वतंत्र तत्व है । इस निज तत्व पर दृष्टि न जाय और बाहरी मोह ममता में ही उपयोग फंसा रहे तो वह कौनसी जिन्दगी है? पशुओं में, मनुष्यों में और कौनसी विशेषता है? आप कहेंगे यश की विशेषता है । पशुओं में यश नामवरी की बात तो नहीं है, मनुष्यों में तो है । और ऐसी यश नामवरी पशुओं में भी चला करती है । ये पशु लोग जानते हैं, यह बड़ा है, यह समर्थ है, यह धनी को ज्यादा प्यारा है । इसका वे पशु भी अन्दाज रखते हैं । कोई बलवान जानवर हो, पुण्यवान जानवर हो तो दूसरे जानवर उसके आगे नीची गर्दन करके उसका सम्मान करते हैं । वहाँ पर भी ये सब चीजें चल रही हैं जो मनुष्यों में चलती हैं । अन्य कौनसी विशेषता है मनुष्यों में? आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये सब मनुष्य भी करते हैं, पशु भी करते हैं । सारी बातें तो समान हैं । विशेषता किस बात की है?

पशुओं से मनुष्य में विशेषता—विशेषता यही है मनुष्य में कि देह से भिन्न अपने अन्तस्तत्व को पहिचाने और इस ही परिचय में, इस ही के उपयोग में अपनी दृष्टि को स्थिर रखे, इससे ही है मनुष्य की विशेषता है । और यही काम न किया जाय तो फिर निर्णय कर लो, कैसी जिन्दगी है और यहाँ दो चार पुरुषों ने कुछ भला कह दिया, कुछ प्रशंसा कर दी तो कौनसा लाभ लूट लिया सो तो मन में निर्णय बनावो? संसार के क्लेश घट गए कि आत्मा में पवित्रता बढ़ गई, कि कुछ शान्ति मिल गई या भविष्य अपना

निर्बाध बन गया, या इस ही भव में ये हमारे हो गये, या ये शरण सहाय बन जायेंगे, कौन सा लाभ लूट लिया सो तो बतावो? इन बातों में एक भी बात नहीं मिली, उल्टी ही उल्टी सारी बातें हुईं। जितनी दगा मित्र दे सकता है उतनी और कोई गैर व्यक्ति नहीं दे सकता।

बातों की मित्रता—मित्रता होती है बातों से। बातों के सिवाय और मित्रता का क्या उपाय है? भली बात कहे, रुचि की बात कहे, मन लगने की बात कहे लो मित्र हो गए। मित्रता में और क्या देर लगती है? तो जितनी मित्रता बनेगी उस मित्रता के बीच में जरा भी प्रतिकूल काम हो जायगा तो बस विमुख हो जायगा और विमुख हो तो विमुखता का और तांता बढ़ता जायगा। उस ताते में जो बिगाड़ गैर नहीं कर सकते वह बिगाड़ मित्र कर डालते हैं। इस लोक में भी लाभ क्या लिया? शान्ति कहां रही? वह प्रशंसा करने वाला तो अपने विकल्पों की चक्की चलाकर चला गया। उसने तो उतनी बात ही कही और आपको उसको खुशी रखने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ेगा तो आप तो टोटे में ही रहे ना। और परलोक का भी कौनसा सुधार है? स्त्री है, संतान चाह रहे, धन जोड़ रहे, और-और चाह रहे, यह सब नाम के लिए चाहते हैं। ये व्यर्थ में क्यों विडम्बनाएँ की जा रही हैं।

जीव की अभिन्नसम्प्रदानकारकता—देखो यह जीव-जीव के भावों का ही कर्ता है, अपनी शक्ति से ही किया गया है और जो कुछ भी बात गुजरी, परिणमन हुआ उस परिणमन का प्रयोजन यह जीव स्वयं है। उत्पन्न हुए विभाव पर्यायरूप कर्म के द्वारा आश्रयमाण कौन है? लो क्रोध हुआ। इस क्रोध का फल किसे मिलेगा? मिलेगा क्या, मिल तो रहा ही है। जिस समय क्रोध कर रहे हैं उस ही समय तुरन्त क्रोधी फल को पाता जा रहा है, क्षोभ, बेसुधी संक्लेश तुरन्त के तुरन्त मिल रहे हैं। फल मिलने में एक सेकेण्ड की भी देर नहीं है। तो जो पर्यायें बनती हैं उन कर्मों का फल पाता कौन है? यह ही करने वाला। लोग कहते हैं जो करेगा सो भरेगा। ठीक है। इसमें और सुधार कर लो। जो करेगा वह उसी समय भरेगा। आगे पीछे अन्तर की बात नहीं है। तो उस विभाव कर्म के द्वारा आश्रयमाण यह जीव पदार्थ स्वयं है। अतएव यही सम्प्रदान है।

जीव में अभिन्नापादानकारकता—जो पर्यायें हुई दूसरी समय विलीन हो गयीं, यों अनन्तपर्यायें बिलीन होती चली जाती हैं। उन पर्यायों का विलय होने पर भी ध्रुवता का आलम्बन जिसमें है, यही उपादेय हुआ। समुद्र में नवीन-नवीन लहरें उत्पन्न होती हैं, विलीन हो जाती हैं। उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी यह समुद्र वही का वही रहा। ये सब बातें जैसे वहाँ भिन्न दिखती हैं ऐसे ही सब कुछ इस जीव द्रव्य की पर्यायें भी विलीन हो गयीं, पर रहा जीवद्रव्य वही। सब अभिन्नता दृष्टगत होती है। यही आत्मा अपादान है, यह सब लीला किसी आधार में हुई है। रागद्वेष आदिक विभाव होना या जो भी विभाव हों, साधारण प्रकरण में विभाव या स्वभाव व्यक्ति न देखो। कुछ भी हो, भाव में पर्यायों का आधार कौन है? यही जीवद्रव्य।

जीव में अभिन्नषट्कारकता के समर्थन में समुद्र का दृष्टान्त—समुद्र में लहरें उठीं। उठी वायु के निमित्त से। उपाधि वायु है, लेकिन बार-बार अब इसे रटना नहीं है, वायु उपाधि है, वायु उपाधि है। समझ लो। उसका विरोध न करके उसको एक जगह आसन दे दो। आप यहाँ विराजिए। आपकी बात बिल्कुल ठीक है। वायु के निमित्त से समुद्र की तरंगें उठीं, ठीक है, विराजिए, अब चलो वस्तु में पाई जाने वाली कलायें देखिये। इस समुद्र में लहरें उठीं, इन लहरों को समुद्र ने किया, क्योंकि उन लहरों रूप से प्रवर्तमान यह समुद्र है और समुद्र ही उस रूप में पेश हुआ, प्रवर्तमान हुआ। अतएव समुद्र ही कर्म हो गया और यह सब समुद्र उस समुद्र की स्वयं शक्ति है ना इससे हिल जीता है। नहीं तो हवा के चलने पर यह लोहे का गाटर क्यों नहीं जरा भी हिल जाता? उसमें इस तरह की योग्यता ही नहीं है। समुद्र की ही वह शक्ति है। अपनी ही शक्ति से अपने ही करण से वह रूपक बन रहा है और ऐसा लहराता हुआ समुद्र लहलहा रहा है, उसमें वह परिणमन होना अवश्यंभावी है, जो होना है वह हो रहा है, उस सत्त्व का फल है और उन लहरों की स्थिति का आश्रयमाण कौन है? उन लहरों ने आश्रय किसका लिया, वही सम्प्रदान है।

। आपके हाथ में कोई वस्तु है, और किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को आप दे रहे हैं तो देने के मायने क्या हैं? यह वस्तु अब इसका आश्रय करेगा । तो वस्तु जिसका आश्रय करे बस वही सम्प्रदान है । यों इससे जीव की दृष्टि में सम्प्रदान जीव ही हुआ । समुद्र की दृष्टि से समुद्र सम्प्रदान हैं और उसमें लहर निकली, फिर भी वह ज्यों का त्यों है, वही अपादान है, यही अधिकरण है । ऐसे ही जीव में जीव भाव का अभिन्न षट्कारक घटित होता है । यह जीव अपने ही परिणमन के किसी अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता है।

अभिन्न षट्कारकता के अवगम का प्रयोजन—इतनी सब बातें बताने का निष्कर्ष यह है कि यह निर्णय रख लीजिए कि कर्म का कर्ता जीव नहीं है । ज्ञानावरण आदिक द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है, जीव नहीं है । जीव के भावों का कर्ता जीव है, कर्म नहीं है । जीव ही जीव भावों से स्वतंत्रया प्रवर्तमान हुआ है ऐसा समझकर हम अपने को अन्य सर्व पदार्थों से न्यारा निरखें और इस निज अंतस्तत्व में उपयोग लगाकर तृप्ति और सन्तोष का अनुभव करें । यह कर सके तो हमने कुछ शरण पा लिया और यही न कर पाये तो जैसे अनन्त काल व्यतीत किया जिस चक्र में उस ही प्रकार उसी चक्र में समझ लीजिए कि आगे भी रहेंगे । इससे बचना अपना कर्तव्य है और इससे बचने के लिए अन्तज्ञान ही नितान्त आवश्यक है ।

कम्मं कम्मं कुब्बदि जादि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।

किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६२॥

अभिन्नषट्कारकता के विरुद्ध एक आशंका—पञ्चास्तिकाय की ६२वीं गाथा में अभिन्न षट्कारक पद्धति से यह बताया गया था कि यह अशुद्ध आत्मा अपने ही अशुद्ध षट्कारक रूप से परिणमता हुआ परिणमन को करता है और इसी तरह शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान होने से अभिन्न षट्कारकरूप से परिणमता हुआ अपने शुद्ध परिणमन को करता है और कर्म अपने ही अभिन्न षट्कारकरूप से अपने आपकी स्थितियों को किया करते हैं । ऐसी चर्चा सुनने के बाद शिष्य को एक शंका हुई है कि यदि कर्म-कर्म को करता है और आत्मा-आत्मा को करता है तो यह आत्मा कर्मों के फल को कैसे भोगेगा और ये कर्म भी आत्मा को कैसे फल दे सकेंगे, फिर तो यह कोई झगड़ा ही न रहना चाहिए था, जो यह संसार बना है, इतना जग-जाल है, व्यर्थ की भ्रमणायें हैं, विकारों का नच है, थे सारी विडम्बनाएँ तो सामने रक्खी हैं । ये तो तब ही हो पायेंगी जब आत्मा कर्म को करे और कर्म उसे फल दे और आत्मा उसका फल पाये । ये सब बातें मानी जाने पर ही यह संसार की व्यवस्था बन सकती है ।

अभिन्नषट्कारकता पर शंका का सारांश—यहाँ शंकाकार के कथन का सारांश इतना है कि कर्म और जीव यदि ये एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं तो प्रथम तो यह बात है कि यह जीव फल कैसे पायगा? कुछ करेगा ना अटपट दूसरे को, तभी तो फल मिल पायगा, और फिर यह कहा जाय कि अजी फल देने वाला दूसरा है । तो उसमें भी यह आपत्ति आती है कि जब किया ही कुछ नहीं तो दूसरा फल भोगने लगे । कुछ भी वस्तु व्यवस्था न बनेगी । सब अनवस्थितता हो जायगी । तब वास्तव में मामला है क्या? कैसे यह संसार बन गया । कैसे ये विडम्बनाएँ चल उठीं? यदि एकान्त से अर्थात् जीव के भाव के निमित्त की बात न कह कर अथवा निरपेक्ष होकर जीव भाव के निमित्त बिना यदि यह कर्म-कर्म है, यह द्रव्य कर्म कर्मरूप बनता है और यदि आत्मा-आत्मा को ही करता है द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो जिसने कोई कर्म नहीं किया फिर कर्म का फल वह कैसे भोगेगा और जीव ने जो कर्म नहीं किया वह कर्म जीव को फल कैसे देगा? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान देंगे । वह समाधान चूंकि भूमि का पूर्वक कहने के पश्चात् ही समझ में आ पायगा, इसलिये कुछ सिद्धान्त सूत्र कह रहे हैं—

ओगाढगाढणिचिदो पोगलकायेहिं सव्वदो लोगो ।

सुहुमेहिं वादरेहि य णंताणतेहिं विविहेहिं ॥६४॥

कर्मफलव्यवस्था के प्रसंग में भूमिकारूप सिद्धान्तप्रदर्शन—यह समस्त लोक सर्व ओर से पुद्गल स्कंधों से अत्यन्त भरपूर भरा हुआ है। ये पुद्गल काय नाना प्रकार के हैं—कोई सूक्ष्म, कोई वादर, अनेक अवगाहना अनेक शक्ति सूरतों के अनन्त पुद्गल कामों से भरा हुआ यह लोक है। पुद्गल काय में यहाँ मुख्यतया कार्माणकाय लेना। ५ शरीरों में कार्माण शरीर भी है और अन्य भी अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु के चार शरीर भी हैं। इन चार शरीरों में जितने हैं परमाणु उन चार शरीरों से भी कई गुणित उन कर्म योग्य पुद्गलों से यह लोक भरा हुआ है। यह सिद्धान्त सूत्र बताया जा रहा है। इसमें से अर्थ यह निकाल लेना अपने प्रयोजन का कि इस जीव को कर्म कहीं से खोजकर लाना नहीं पड़ता।

जीव के प्रदेशों में विस्तरोपचित कर्म का भी उपचय—प्रथम तो इस जीव के साथ अनंतानन्त कार्माण पुद्गल स्कंध ऐसे घेरे पड़े हैं जो अभी कर्मरूप तो नहीं हैं, किन्तु जीव जहाँ जायगा वहाँ जायगा वहाँ वह भी सब जायगा, और मरने पर भी कार्माणस्कंध जीव के साथ जायेंगे वे, अभी जो कर्मरूप नहीं हुए हैं, किन्तु कर्मरूप होने की योग्यता रखते हैं, इनका नाम है विस्तरोपचय। विस्तरा उपचय। विस्तरा मायने प्रकृत्या उपचय मायने ढेर रूप से। ऐसे कार्माण द्रव्य जो कर्मरूप तो नहीं हैं, पर कर्मरूप बनने की योग्यता रखते हैं। ऐसे एक-एक कार्माण द्रव्य जीव के साथ ऐसे लगे हुए हैं कि मरने के बाद एक भव छोड़कर दूसरे भव में जायेंगे। यों समझ लो कि बँधे हुए कर्मों की ही तरह ये भी लग बैठे हैं। फर्क इतना है कि बँधे हुए कर्म कर्मरूप हैं और वे कर्मरूप नहीं हैं।

विस्तरा उपचय की एक मोटी झांकी—कभी देखा होगा किसी बाग में जंगल में धूमते चले जाये तो कभी-कभी सिर के ऊपर सैकड़ों छोटी-छोटी मक्खी भिन्नभिन्नती हैं और वे इस रूप में सिर के ऊपर आ जाती हैं कि आप जहाँ जाये वहाँ ये मक्खियाँ भी आ जाती हैं। आप दौड़ लगाये तो वे भी दौड़ लगाती हुई सिर पर चलेंगी। आप कहीं बैठ जाये तो वे भी वहीं भिन्नता रहेंगी। वे मक्खियाँ आप में आपके कुर्ता की तरह नहीं चिपटी हुई हैं तो भी वे आपके साथ-साथ जा रही हैं। उन मक्खियों में आपने क्या कर दिया, पर उनकी प्रकृति है। ये अनंत विस्तरोपचय कार्माण द्रव्य जो अभी कर्मरूप नहीं हुए, फिर भी जीव के साथ लगे हुए हैं। जीव अशुद्ध विचार करे, संकल्प-विकल्प में मस्त रहे तो कर्म कहीं से लाना नहीं पड़ता, हमारे साथ ही बंधे पड़े हैं। जहा परिणाम खोटा हुआ कि वे ही परिणाम कर्मरूप बन जाते हैं।

कार्माणद्रव्यप्रदर्शक सिद्धान्त सूत्र से प्रयोजनीभूत वक्तव्य—इस सिद्धान्त सूत्र से यह बात लेना है-कोई एक अलग से नियत आत्मा हम लोगों को दंड देने वाला हो तब तो फिर उस प्रभु से अनन्त बार चूक होती रहती। अनन्तानन्त जीव हैं, जिन में से अनन्त भी मोक्ष चले जायें तो भी अनन्तानन्त रहते हैं और अनन्तकाल से मोक्ष चले जा रहे हैं फिर भी अनन्तानन्त हैं। आज की ही स्थिति देख लो, कितने जीव समझ में आते हैं। इन सबको दुःख देने वाली यदि कोई प्रकृति नहीं है। आटोमैटिक सिस्टम न हो तो व्यवस्था नहीं बन सकती है। वह आटोमैटिक सिद्धान्त यह है कि जीव ने परिणाम किया, वह अपने आपके परिणामों का निमित्त पाकर इसमें कार्माण व णा कर्मरूप हो गई और उनमें प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग भी बन गया।

कर्मत्वपरिणमन पर एक दृष्टान्त—आप भोजन करते हैं तो भोजन पेट से बँध गया ना? यहीं तो भोजन का आसव है और बंध गया। तुरन्त तो नहीं निकल भगता। अब उस भोजन में ऐसा विभाग हो जाना कि इतना अंश खून बनने योग्य है, इतना पसीना बनने योग्य है, इतना मल बन जायगा, इतना मूत्र बन जायगा, इतना भोजन का अंश हड्डी बन जायगा और इतना यह अन्य-अन्य धातु बन जायगा, यह प्रकृति विभाग तुरन्त ही हो जाता है। हड्डी चाहे कितने ही दिनों में बने। वह परमाणु चाहे कितने ही दिनों में हड्डी रूप हो, लेकिन ऐसी प्रकृति का विभाग तुरन्त हो जायगा और उनमें स्थिति का भी विभाग है। भोजन के जो परमाणु हड्डी रूप बन गये वे पचासों वर्षों तक ठहरेंगे। जो मूत्र रूप बन गये वे तीन चार घंटे में ही निकल जायेंगे। तो उनमें सबकी स्थिति

भी बँध गयी। कौन स्कंध कितने दिनों तक रहेगा? और उनमें अनुभाग भी बंध गये। जो हड्डी रूप बन गए उनमें ताकत ज्यादा है। जो पसीना, रुधिर, मल, मूत्र बन गए उनमें शक्ति भी निश्चित हो गयी। अब विपाक आयगा अवसर पर। यों ही उनमें प्रदेश का बंध तो है नहीं। इसे कौन करता है? पेट में अन्न पहुंचने के बाद विभाग हो जाया करते हैं। यह आटोमैटिक सिस्टम रहा कि नहीं? आप कोई पेट में नौकर तो भेज नहीं देते ति जावो तुम्हें ऐसाएसा कार्य करना है।

कर्मफल—यों ही जब उन कर्मों का उदयकाल आता है, विपाक काल आता है तो वहाँ भी कुछ प्रभाव होता है। डाली में फल लगा है। वह फल पककर जब झड़ता है तो झड़ते समय डाली में भी कुछ न कुछ प्रभाव आ ही जाता है, डाली हिल जाती है। यों ही ये चिरकाल से बँधे हुए कर्म जब निकलने को होते हैं अर्थात् जब इनका उदय होता है तब इस जीव में विभाव परिणामरूप प्रभाव पड़ता है। तत्व की बात बड़ी सावधानी से सुनने की होती है। लो यों जीव ने कर्म बँधा और कर्मों ने फल दिया, इतने पर भी जीव ने जोव में ही स्वयं कुछ किया और जीव ने जीव में ही कुछ भोगा। कर्म ने कर्म में ही कुछ किया, कर्म ने कर्म में ही कुछ भोगा।

यथार्थज्ञान की उदारता—अहा, कैसा स्वच्छ ज्ञान का प्रताप है ज्ञानी पुरुष का कि उसकी सब कुछ बातें जिसकी एक-एक किरण लेकर लोग लड़ा करते हैं, विवाद करते हैं, ज्ञानी के ज्ञान में सब एक साथ समाया हुआ है। इस ज्ञानी के उपयोग में ज्ञानियों का और अज्ञानियों का दोनों का स्थान है। कितना उदार है यह ज्ञानी कि ज्ञानियों की बात का भी समर्थन करता है और एकान्त हवादियों का भी समर्थन करता है। भगवान को एक जगह प्रमाता कहा है स्वयंभू स्तोत्र में। हे प्रभो! तुम प्रमाता हो। प्रमाता का सीधा अर्थ है प्रमाण करनेवाले और प्रमाता का दूसरा अर्थ है उत्कृष्ट माता। हे प्रभो! तुम सबसे बड़ी माता हो। जैसे माता अपने बच्चे के हितरूप अनुशासन करती है, ऐसे ही है नाथ! आपने इन समस्त अज्ञानी बच्चों के हित के लिए हितरूप अनुशासन किया है।

तीर्थकर का प्रमातृत्व—किसी कवि ने तो यह कल्पना की है कि जब कोई पूछे कि तीर्थकर के शरीर में सफेद खून क्यों होता है? अतिशय में बताया गता है कि तीर्थकर के शरीर में सफेद खून होता है, अपन लोगों का लाल खून है। किन्तु शायद डाक्टर भी बतायेंगे कि अपन लोगों के भी लाल और सफेद दोनों खून हैं। लाल और सफेद दोनों का मिश्रण खून में मिलता है। सफेद खून जब कम होता है तो इसमें विकार आने लगता है, रोग बढ़ने लगता है। सफेद खून रोगहारी है। खैर, तीर्थकर के सफेद खून क्यों होता है? तो कवि की कल्पना है कि मां को एक बालक पर तीव्र अनुराग है तो उस बच्चे के अनुराग के कारण जब सफेद दूध निकल आता है तो तीर्थकर को जिनके कि जगत के सारे जीवों से अनुराग है, करुणा है उनके सारे शरीर का खून अगर सफेद हो जाय तो इसमें क्या आशर्च्य है?

तत्त्ववेदी की उदारतेस्कृता—तत्त्वज्ञान का अधिकारी प्रमाता जीव इतने विशाल उदार हृदय वाला है कि उसको किसी भी दार्शनिक पर रोष नहीं आता। उस दार्शनिक को योग्य दृष्टि से उसकी बात समझाकर दूसरी भी बात हित के लिए आचार्यदेव बता देते हैं और इतने पर भी कोई हठवादी दार्शनिक हठ ही करे, न माने, रोष करे, झगड़ा करे तो भी वह संत पुरुष तत्त्ववेदी मध्यस्थ हो जायगा, पर विस्म्वाद न करेगा, क्योंकि वह जानता है कि किसी के साथ विस्म्वाद करन से हमारा ही नुकसान है, हमारे ही विकल्पों की सृष्टि बनेगी। हम ही उसका फल भोगेंगे। ज्ञानी तो बहुत पटु जीव है जिसकी पटुता के कारण न दूसरे का विनाश हो, न स्वयं का विनाश हो।

आशङ्का और सिद्धान्तस्थापन—प्रकरण यह चल रहा है, इस शंका का समाधान पल रहा है कि आत्मा-आत्मा का ही कर्ता हो, कर्म-कर्म का ही कर्ता हो तो आत्मा कर्म का फल कैसे भोगेगा, क्योंकि आत्मा ने तो कर्मों को किया ही नहीं और यदि बिना

किए हुए फल मिलने लगे तो सब अव्यवस्था हो जायगी और इसी तरह कर्म आत्मा को फल कैसे दे, उसने तो कर्म किया ही नहीं। जिसने नहीं किया उसे कर्मफल देने लगे तो बड़ी अटपट व्यवस्था बनेगी। सब अव्यवस्था हो जायगी। ऐसी अव्यवस्था हो जाय कि कहो पापी को पाप का फल न मिले और उस पाप का फल सिद्ध पर थोप दिया जाय। इस शंका के उत्तर में समाधान आगे आयगा। उससे पहिले इस गाथा में यह सिद्धान्तसूत्र रखा है—जैसे काजल की डिबिया जिसे रोज-रोज इस्तेमाल में लाया जाता है वह काजल से भरपूर होती है, ऐसे ही यह लोक सूक्ष्म और वादर अनन्तानन्त पुद्गलों से खचाखच भरा हुआ है और उसमें ये कर्म योग्य पुद्गल भी खचाखच भरे हैं।

प्रत्येक संसारी जीव के प्रदेशों में कार्मण द्रव्य का सुख उपचय—देखो एक जीव के साथ अनन्त तो कर्म वर्गणायें कर्मरूप बँधी हैं और उस ही जीव के साथ अनन्त कार्मण वर्गणायें ऐसी भी पड़ी हैं जो कर्मरूप नहीं हैं, पर उसके साथ चिपकी हैं और वह एक जीव चाहे तिल के दाने के असंख्यातरें भाग की अवगाहना का हो उस जीव में भी अनन्तानन्त कर्मवर्गणायें पड़ी हैं और जिस जगह वह छोटा जीव है उस जगह ऐसे अनन्त जीव भी पड़े हुए हैं और उनमें भी एक-एक के साथ अनन्त कार्मणवर्गणायें भरी हैं। फिर ३४३ घनराजू प्रमाण लोक में अंदाज तो करो। कोई शुमार है। इन कार्मणवर्गणावों को कहाँ से लाया नहीं जाता। ज्यों ही जीव में खोटा परिणाम हुआ ये कार्मणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ ही ये कार्मण वर्गण के योग्य पुद्गल जो अनन्तानन्त हैं बिना लाये हुए हैं। बस बात इतनी होती है जिस समय में जीव के विभावपरिणाम होते हैं तो वे कर्मरूप से उपस्थित हो जाते हैं इस ही का नाम आस्रव है।

कर्मसिद्धान्त से ग्राह्यदृष्टि—इस सिद्धान्त में भी यह दृष्टि अपनायें कि यद्यपि ये कार्मणवर्गणायें व आत्मा एक क्षेत्र में दूध और पानी की तरह ठहरे हुए हैं तो भी ये भिन्न हैं। आत्मा एक स्वतंत्र तत्व है और ये सब कार्मणवर्गणायें अचेतन हैं, हेय हैं। इनसे आत्मा का कुछ हित नहीं है। इन सब कर्मों से भिन्न शुद्ध ज्ञानमात्र ही जिसका एक स्वभाव है ऐसा यह परमात्मतत्व ही हमें ग्रहण करने योग्य है। धर्मपालन करना है तो उस ढंग की पद्धति अपनानी होगी अन्यथा कष्ट भी भागा और धर्म भी न मिला। हम इतने समागमों के बीच पड़े हैं, ये भिन्न विभाव, ये शरीर, ये कार्मण वर्गणायें, ये रागादिक भाव, अनेक परतत्वों के बीच पड़े हैं फिर भी मैं इन परतत्वोंरूप नहीं हूँ। मैं तो केवल उस सहजस्वभावरूप हूँ जिसकी अनुकम्पा से इनकी भी कदर हो रही है। एक मूलभूत सहजस्वभाव को निकाल दीजिये फिर तो सारा मामला बिखर जायगा। मैं केवल सहज ज्ञानानन्द स्वभावमात्र परमात्मतत्व हूँ। मेरा शरण, मेरा सार, मेरा सर्वस्व मेरा यह सहज स्वरूप है, अन्य कुछ नहीं है, ऐसी उठता गाथा पूर्वक श्रद्धान हो तब उसमें धर्मपालन बनेगा। सत्संग ज्ञानार्जन द्वारा इस प्रतीति को मजबूत बनायें, यही हम लोगों का एक प्रधान कर्तव्य है।

अत्ता कुण्दि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहि ।

गच्छन्ति कर्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥१६५॥

कार्मण द्रव्य का प्रयोग—पूर्व गाथा में यह बताया गया था कि कर्म होने के योग्य पुद्गल इस समस्त लोक में इस तरह व्यापी है जैसे अञ्जनचूर्ण से भरी हुई डिब्बी में कालिमा पूर्णरूप से व्याप है और वह सर्वत्र पड़ी हुई है। यह प्रथम सिद्धान्त सूत्र इसलिए कहा गया है कि उस सिद्धान्त को बताने के बाद अब यह सुगमतया दर्शाया जा सकता है कि इन भरे हुए कर्म योग्य पुद्गलों का होता क्या है? जहाँ ये कर्म पुद्गल पड़े हैं वहाँ ही सर्व जीव हैं और जहाँ यह संसारी जीव है वहाँ उनसे सम्बंधित विस्तरोपचयरूप में कर्मरूप पुद्गल पड़े हुए हैं तथा अन्य भी पुद्गल हैं। यह जीव केवल अपने भावों का कर्ता है। उन भावों का निमित्त पाकर वहाँ पर अवस्थित कर्म योग्य पुद्गल अपने ही स्वभाव से वे कर्म अपनी ही प्रकृति से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं और वे जीव में अन्योन्यावगाह रूप से निश्चित हैं जाते हैं।

कर्मों को खींचकर लाकर बांधने की आवश्यकता का अभाव—कहीं कोई यह कहे कि यह जीव अपने परिणामों से कर्मों को खींचता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने से बाहर पड़े कर्मों को खींचता है, किन्तु अपने ही प्रदेश में विस्तोपचय के रूप में अवस्थित इस कर्म योग्य पुद्गल को कर्मरूप बना लेता है, यह व्यवहारदृष्टि का कथन है, यह उसका भाव है। कदाचित् कोई बाहर के भी कर्म योग्य पुद्गल अपनी परिणति से जैसे स्थानान्तरित होते रहते हैं, ऐसे ही यह आत्मप्रदेशों में आ जाय तो वह भी कर्मरूप हो सकता है, किन्तु यह जीव बाहर से कर्मों को लाकर फिर कर्मरूप बनाता हो, ऐसी बात नहीं है।

संसारी जीव की अनादिबन्धनबद्धता—यह आत्मा संसार अवस्था में अनादिकाल से बन्धन में बद्ध है। कोई यह शंका करे कि यह जीव तो बड़े शुद्ध स्वरूप वाला है। इसने ऐसा क्या अपराध किया कि इसमें कर्म बंध गये? तो उसका समाधान इतना है कि यह अपराध की शुरुआत किसी क्षण से नहीं है, किन्तु जब से जीव है तब से ही यह अपराध बना हुआ है। जीव है अनादि से। प्रत्येक सत् अनादि से है। केवल जीव की ही क्या बात है? सभी पदार्थ अनादि से हैं। जब से यह जीव है तब से ही अपराधमय है। पहिले यह निरपराध हो, पीछे अपराध आया हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि यह निरपराध था, धर्म आदिक द्रव्यों की तक विशुद्ध था तो अपराध आने का कोई कारण ही नहीं है। क्या ऐसा नहीं होता कि कोई शुरू से ही ऐसा हो? और पश्चात् उपायों से उस रोष को दूर कर दिया जाता हो।

अनादिबद्धता पर एक दृष्टान्त—तिल के दाने में तेल कब से आया? किसका दाना निकल चुका, फिर उसमें तेल भरा जाता हो, क्या ऐसा है? अरे तिल का दाना जब से बनना शुरू हुआ तब से ही उसमें किसी न किसी रूप से तेल भी शुरू है। दाना भी कमजोर है, तेल भी कमजोर है। जब वह दाना पुष्ट होता है तब वह तेल भी पुष्ट होता है। तिल में तेल कब से है? जब से तिल है, और उस तिल से तेल जब निकाला गया तो तेल अलग हो गया, तिल अलग हो गया। ऐसे ही इस जीव में रागादिक विभाव परम्परा और यह द्रव्यकर्म की परम्परा कब से है? जब से यह जीव है तब से है, फिर भी उसे ज्ञान और वैराग्य के बल से बाह्यपदार्थों से हटकर केवल निज अन्तस्तत्त्व में उपयोग जमाये और इस उपयोग की स्थिरता रखे तो कर्म और रागादिक विभाव दूर किये जा सकते हैं।

जीव की अनादिबद्धता का अन्तःकारण—यह जीव अनादि से बन्धन में बद्ध है। इसका कारण यह है कि यह अपने अस्तित्व का, चैतन्यस्वभाव का त्यागी हो रहा है उपयोग द्वारा। जीव अपने स्वभाव को कभी त्याग नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव पदार्थ में शाश्वत होता है। लिये रहो। जब ज्ञान में नहीं है कि मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है तब तो इसका त्याग हुआ ही समझ लो। अपने परिणामिक शुद्ध चैतन्यस्वभाव को तजता हुआ यह जीव अनादि काल के बन्धन से बद्ध चला आ रहा है और इस बद्धता के कारण अनादि से ही मोहरागद्वेष के स्नेह से परिणमता चला आ रहा है। जैसे कहते हैं—चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता ऐसे ही जो जीव रागद्वेष मोह विभाव की चिकनाई से चिकने हैं वहाँ ज्ञान वैराग्यरूपी जल नहीं ठहरता है। यह जीव ऐसे ही मलिन भावों से परिणमता चला आ रहा है। वह जब और जिस समय मोह रूप, राग रूप अथवा द्वेषरूप अपने परिणामों को रखता है तब उस समय में परिणामों को निमित्त मात्र करके जीव प्रदेशों में परस्पर अवगाहरूप का प्रवेश कर के अपनी ही प्रकृति से यह पुद्गल कर्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। निमित्तनिमित्तिक सम्बन्ध और समग्र वस्तुओं के परिणमन की स्वतंत्रता—इन दोनों का यथार्थ परिज्ञान जो करे वही तत्व का मर्मज्ञ है। किसी एक पक्ष के एकान्त को ही माने और दूसरी दृष्टि के विषय का निषेध करे तो वहाँ मर्म नहीं पाया जा सकता।

निश्चय एकान्त में अनिष्टापत्ति—एक निश्चयदृष्टि से निरखने पर यह विदित होता है कि यह जीव अपनी ही परिणमन शक्ति से अपने लिए अपने में अपने रागादिक परिणमन से स्वयं परिणमता हुआ, स्वतंत्र होता हुआ यह रागादिक परिणमन का कर्ता है

। जान तो लिया यह, किन्तु इसकी ही हठ हो और यह बात विदित नहीं हो कि ये रागादिक परिणाम परउपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं । जब तक यह भी श्रद्धा न हो तब तक उन रागादिक परिणामों को छोड़ने का उत्साह कैसे जगेगा? जब यह दृष्टि में रहता है कि ये रागादिक विभाव परउपाधि का निमित्त पाकर आये हैं, मेरे घर की निजी गांठ की वस्तु नहीं हैं और यह दुःखकारी है तो यह उनसे उपेक्षा करके अपने स्वरूप में लगने के उपाय से उन सब विभावों को दूर हटा देता है । कदाचित् कोई यह भी समझता रहे कि ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं, स्वभाव के विपरीत परिणाम हैं, इस कारण ये विभाव तजने योग्य हैं, ऐसा कोई मानता रहे, किन्तु निमित्त उपाधि को न माने तो पहिले तो यहीं निर्णय करना कठिन है कि रागादिक विभाव क्यों हैं? चैतन्यस्वभाव है और रागादिक विभाव हैं यह कैसे कहा जाय, जब कि उपाधि का कुछ सम्बंध ही न माना और परनिमित्त ही कुछ नहीं माना गया तो जीव में जो कुछ हो वही स्वभाव है । विभाव कैसे हुए? पहिले तो व्यवहारदृष्टि के विषय का खण्डन करने पर विभाव का विभावपना ही निर्णय नहीं किया जा सकता और कदाचित् निर्णय कर लिया जाय जबरदस्ती कि चलो ये रागादिक विभाव हैं तो भी चित्त में यह उत्साह कैसे जग सकेगा कि ये विभाव हैं, इनसे दूर हटो । क्योंकि अब ये विभाव परउपाधि के सम्बंध बिना ही आत्मा में अपनी शक्ति से हुए हैं । तो जब होना होगा, होते रहेंगे । जब न होना होगा, न होंगे, और न होकर भी फिर जब होना होगा, हो जायगा । कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है । इस कारण केवल निश्चयदृष्टि का एकान्त कर लेने पर व्यवहार की बात का निषेध करने पर भी तो मर्म नहीं पाया जा सकता ।

व्यवहारैकान्त में अनिष्टापत्ति—इस ही प्रकार कोई व्यवहारदृष्टि का एकान्त कर ले, निश्चयदृष्टि की बात को मना करे अर्थात् अपना सिद्धान्त यों स्थापित करे कि जीव में राग द्वेषादिक को कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव उत्पन्न नहीं करता, जीव का वहाँ क्या वश है? जब कर्म उदय में आते हैं तो ये कर्म जीव को जबरदस्ती झकझोर डालते हैं । जीव वहाँ कुछ नहीं करता । यों व्यवहारदृष्टि का एकांत करे और इस निश्चयदृष्टि के मर्म को अलग कर दे कि यह जीव अपनी विभावशक्ति से ऐसा विभावरूप परिणामता है और वह परिणाम इसमें इसके लिए इसके द्वारा हुआ करता है, इस प्रकार के निश्चयदृष्टि को झांकी भी न रखे, माने ही नहीं, व्यवहारदृष्टि का एकांत करे तो इसमें भी क्या मर्म पाया? शांति का उपाय कैसे प्राप्त कर सकेगा? ये कर्म जब तक जीव को रागी बनायेंगे तब तक जीव रागी रहेगा । ये कर्म जब तक जीव को द्वेषी बनायेंगे तब तक जीव द्वेषी बनता रहेगा । कहाँ उत्साह जग सकेगा इस व्यवहारदृष्टि के एकान्त में? इन कर्मों की पूजा करें, विनय करे और इनसे रोज प्रार्थना करें, इन कर्मों की स्तुति करें तो कर्मों को कुछ रहम आ जाय तो ये रागद्वेष के शस्त्र, प्रहार कम कर लेंगे । व्यवहारदृष्टि के एकांत में भी आपको शान्ति का मार्ग मिल न पायगा, इस कारण व्यवहारदृष्टि के एकान्त से भी मर्म का बोध नहीं होता।

विशुद्ध ज्ञान की उदारता—वह विशाल उदार ज्ञान धन्य है जिसके ज्ञान में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की भी बात विदित है और वस्तु स्वतंत्रता की भी बात विदित है, और सर्व कुछ एक साथ विदित है । वह विशुद्ध ज्ञान कितना उदार ज्ञान है, जीव में ये रागादिक विभाव पुद्गल कर्म के उदय का निमित्त मात्र पाकर जीव में जीव की शक्ति से जीव के लिए जीवरूप भाव को बनाता रहता है । निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और स्वतंत्रता का ज्ञान—ये दोनों ज्ञान में एकसाथ बने रहते हैं । हाँ प्रतिपादन नम्बरवार हो पाता है ।

वस्तुस्वातंत्र्य की झांकी—रसोईघर में खिचड़ी बनाने के लिए चूल्हे पर पानी की बटलोही धर दी, पानी तेज गर्म हो गया, अधन हो गया । अदहन—चारों ओर से जिसमें दहन आ जाय उसे कहते हैं अधन । पानी गर्म हो गया, यह पानी आग का सत्रिधान पाकर आग का निमित्तमात्र करके अपनी शक्ति से अपने आपको गर्म कर बैठा । जहाँ उस पानी के परिणाम को निरखते हैं वहाँ तो यहीं बात मिलेगी कि यह पानी अपनी शक्ति से अपने आप में अपने आपको गर्मरूप कर लेता है, किन्तु ऐसा अपने आपको गर्म बना लेने का काम परउपाधि के बिना नहीं कर पा रहा तो अग्नि को परउपाधि का मानना आवश्यक हुआ । है उपाधि तिस

पर भी यह अग्नि अपनी गर्मी, अपनी पर्याय, अपना गुण अपने को बाहर निकाल-निकालकर पानी में फेंकता हो और फिर पानी गर्म हो रहा हो, ऐसी बात नहीं है।

अग्नि का जलादि में गमन का अभाव—खाली चूल्हों जितनी लकड़ी आधा घंटा तक जलती हैं ठीक उतनी ही नाप तौल की लकड़ी पानी की बटलोही की चूल्हे में रखें तब भी जलती हैं। वह आधा घंटे में जल सकने वाली लकड़ी पानी की बटलोही रखने पर कहो १० ही मिनट में जल जाय और बटलोही न रखे तो आध घंटे तक जलेगी, ऐसा अन्तर देखा है क्या? यदि यह अग्नि अपनी गर्मी निकालकर इस पानी में डालकर पानी को गर्म करती होती तो उसका अर्थ यह था कि बजाय आधा घंटे के वह १० मिनट में ही जलकर खाक हो जाती, पर टाइम उतना ही रहता है अग्नि का जितना कि बटलोही धरी है तब, नहीं धरी है तब। और शायद यह भी सम्भव है कि बटलोही धरकर भी ५-७ मिनट और देर तक वह लकड़ी जले। तो जहाँ? यह भी निरखा जा रहा है कि अग्नि का निमित्त उपाधि पाकर पानी गर्म हो रहा है वहाँ यह भी निरखा जा रहा है कि अग्नि का सब कुछ अग्नि में ही रहता है, अग्नि से बाहर अग्नि की गर्मी निकलकर नहीं भगती। और वहाँ केवल अग्नि को निमित्तमात्र कर के यह पानी अपनी शक्ति से अपने में अपने को गर्मरूप बना लेता है।

अग्नि के असंग में निमित्तनैमित्तिक प्रसार—यहाँ आप एक शंका उठा सकते हैं कि अग्नि यदि यहाँ से ५-७ हाथ दूर पर है, उसकी गर्मी ५-७ हाथ दूर तक लगती है तो ५-७ हाथ दूर तक तो अग्नि ने अपनी गर्मी फेंकी या नहीं। जब होली जैसी आग रहती है तो लगभग २० हाथ तक गर्मी फेंकती है। तो क्या अग्नि ने अपनी गर्मी फेंकी नहीं? उत्तर यह है कि अग्नि अपनी गर्मी फेंकती नहीं है। कितनी भी अग्नि जल रही हो, अग्नि जितने में है उतने से बाहर उसकी गर्मी नहीं फिकती है। होता क्या है कि जैसे अग्नि का सन्निधान पाकर बटलोही का पानी गर्म हो गया, ऐसे ही अग्नि का सन्निधान पाकर उस अग्नि के पास के जो और स्कंध हैं उन्हें आप सूक्ष्म कह लो, क्योंकि आंखों में दिखते नहीं हैं अथवा बड़े-बड़े नहीं दिखते, पर है स्थूल वे सब। तो अग्नि का सन्निधान पाकर अग्नि के निकट के स्कंध गर्म हो गए। वे स्कंध अपने आपके उपादान से गर्म हुए हैं और उनका निमित्त पाकर निकट के स्कंध गर्म हो गए, यों गर्म होते-होते ये १०-२० हाथ दूर तक के भी स्कंध गर्म हो जाते हैं।

शब्दपरिणमन में स्वातन्त्र्य की झाँकी—जैसे ये आवाज के तरंग, ये शब्द वही के वही आपके कान में नहीं आ रहे जो हम मुख से बोल रहे हैं, क्योंकि जो हम शब्द बोल रहे, हैं वे शब्द यदि किसी एक महाशय के कानों में पहुंच जाये तो बाकी पचासों महाशय तो बिना सुने ही बैठे रहेंगे। आपके शब्द केवल एक व्यक्ति के कान में चले गए, बाकी लोग क्या करें? अरे ये शब्द सिर्फ एक ही दिशा को जाते, आपके आगे पीछे सभी तरफ बैठे हुए लोग ये निकले हुए शब्द कैसे सुन लेते हैं? ये निकले हुए शब्द सिर्फ किसी एक व्यक्ति के पास नहीं पहुंचते। इस लोक में सर्वत्र भाषावर्गणायें भरी हैं और जब शब्द बोले जाते हैं तो उन शब्दों का निमित्त पाकर पास की भाषावर्गणायें भी उस रूप परिणम जाती हैं। ये भाषावर्गणायें हम आप सभी के चारों ओर भरी पड़ी हैं। जो भी शब्द बोले गए हैं वे उनका सन्निधान पाकर ये भाषावर्गणायें उन शब्दोंरूप परिणम जाते हैं और सब लोग उनको सुन लेते हैं। यहाँ पर भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और वस्तु की स्वतंत्रता—इन दोनों का परिज्ञान एक साथ कर लिया जाता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और स्वतंत्रकर्तृत्व का अविरोध—एक ही घटना क्या, सारी घटनाएँ ऐसी ही हो रही हैं। जो घटनाएँ स्वभाव के विरुद्ध हैं उन सब घटनाओं की यही पद्धति है। चाहे वे पुद्गल की घटनाएँ हों, चाहे जीव की घटनाएँ हो, पर उपाधि को निमित्तमात्र कर के प्रत्येक पदार्थ अपनी ही उपादान शक्ति से स्वयं स्वतंत्र होता हुआ उन घटनाओंरूप परिणम लेता है। यहाँ इस ही सिद्धान्त को प्रसंग में घटाते हुए बता रहे हैं कि यह जीव तो अपने भावों का कर्ता है और उस सम्बंध में आत्मा शरीर के ही अवगाह क्षेत्र में अवस्थित कार्माणवर्गण के योग्य पुद्गल स्कंध अपने ही उपादान कारण से कर्म पर्यायरूप परिणमन लेता

है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और कर्म का कर्म में स्वतंत्र कर्तृत्व जीव में जीव का स्वतंत्र कर्तृत्व—ये सब निर्विरोध सिद्ध हो जाते हैं, यह बात शंका के उत्तर में कही जा रही है। जब यह शंका उठायी गयी थी कि जब कर्म-कर्म का कर्ता है, आत्मा-आत्मा का कर्ता है तो कर्म का फल आत्मा कैसे भोग सकता है और ये कर्म आत्मा को फल कैसे दे सकते हैं। इस सम्बंध में सिद्धान्तसूत्र कहा जा रहा है। अब इसके आगे की बात अगली गाथा में कही जायगी।

जह पोगलदब्बाणं बहुप्प्यरेहि खंधणिष्वती ।

अकदा परेहि दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥

कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ—जीव के साथ बन्धन को प्राप्त हुए कर्म में कितनी विचित्रता होती है, जिसका वर्णन किया जाना अशक्य है, फिर भी थोड़ा दिग्दर्शन करने के लिए कुछ बताया गया है। ये कर्म ८ प्रकार की प्रकृति वाले हैं, कोई ज्ञान का आवरण करनेवाले हैं, कोई दर्शन का आवरण करते हैं, कोई सुख दुःख के कारण हैं। कोई श्रद्धा और चारित्र को बिगाड़ने वाले हैं, कोई शरीर में रोकते हैं, कोई शरीर की रचना के कारण हैं, कोई ऊँच नीच के व्यवहार के हेतुभूत हैं, और कोई अभीष्ट विषय में विघ्न डालने वाले हैं।

कर्मप्रकृतियों की विविधता—ये प्रकृतियाँ ८ कही हैं, किन्तु ८ ही न जानना। जैसे ज्ञानावरण में ५ प्रकार के ज्ञान को ढाकने की प्रकृतियाँ हैं, वहाँ भी केवल ५ न जानो, मतिज्ञान के ३३६ भेद हैं। इन ३३६ प्रकार से होने वाले ज्ञानों पर ये आवरण करते हैं। यों ३३६ प्रकृतियाँ हुई और मतिज्ञान की ३३६ ही प्रकृतियाँ न जानो, किन्तु जितने पदार्थों का ज्ञान किया जा सकता है और न हो तो उतने मतिज्ञानावरण हैं। घटज्ञानावरण, पटज्ञानावरण, स्वानुभूत्यावरण आदि अनेक प्रकार के होते हैं। जितने मतिज्ञान हो सकते हैं उतने ज्ञानावरण नाम लेते आवो। तब समझ लीजिए श्रुतज्ञानावरण कितने हैं? अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण कितने हैं? कितनी विचित्रता है? ऐसे ही ऐसे सभी कर्मों में जानना। यह तो हुई प्रकृति की बात।

कर्मस्थिति व अनुभागों की विविधता—स्थिति की विचित्रता देखो—कौन कर्म अधिक से अधिक कितने काल तक बन्धन में रह सकता है? जघन्य में कितना और मध्यम में कितना? स्थितियों की विचित्रता देखो, अनुभागों की विचित्रता देखो। कम से कम कोई एक अनुभाग रहता है, फलदान की शक्ति, जिसका कुछ व्यक्त असर भी नहीं हो पाया और है शक्ति अनुभाग और अधिक से अधिक इतना अनुभाग है कि यह जीव जड़ सरीखा अचेतन हो जाय और अनुभाग की डिग्रियाँ कितनी हैं? इसमें इसी से अन्दाज कर लो, जैसे कोई ज्ञानी जीव किसी कर्म प्रकृति की स्थिति का खंडन कर रहा है। मानो किसी कर्म की १० करोड़ हर्ष की स्थिति काटना है तो उसमें जो उद्यम होगा तो ऐसा अन्दाज लगा लो कि मानो १ दिन में करोड़ समय होते हैं। होते तो असंख्यात हैं पर मान लो। अब करोड़ समय की स्थिति को तोड़ना है तो उस तोड़ते हुए के प्रसंग में यह पद्धति बनती है कि मानो १० लाख अनुभाग की डिग्रियाँ खत्म हों तब एक समय की स्थिति खत्म होने का मौका मिलता है। यह बात ऐसी अंदाज कराने के लिए कही जा रही है कि स्थितियों में जितना मालुम होता है उनसे अनन्तगुण फल देने की डिग्रियाँ होती हैं। अनुभाग की विचित्रता देखो।

निषेकों की विविध पिण्डरूपता—निषेकों की विचित्रता देखो—कर्म बंधते हैं—मानो एक समय में ६३०० परमाणु बंधे कर्मों के। मानने की बात है, बंधते तो अनंत है। उन ६३०० परमाणुओं की स्थिति मान लो ६४ समय हुए तो १६ समय तक तो वे कर्म उदय में आ नहीं सकते। यह आबाधाकाल है। अब उन ४८ समयों में पहिले समय में आने वाले प्रथम निषेक के परमाणु मान लो ५१२ आये तो दूसरे समय की स्थिति के निषेक आयेंगे ४८०१ तीसरे समय में उससे भी ३२ कम, इस तरह ८ समयों में ३२ कम लेते जाइए। जब ८ वां समय आयगा तो १६, १६ कम चलेंगे। ऐसे ८ प्र ६०४८ में ८ गुणहानि हानि हुई और नाना गुणहानि

हुई। तो अन्त में कितना समय मिला उदय में आने के लिए? अन्तिम ८ समय के परमाणुओं का जोड़ है १०० और एक-एक कम हो गये तो अन्त में कितने हो गये? बिल्कुल थोड़े परमाणु आये, लेकिन जो अधिक परमाणु उदय में आये उनमें फल देने की शक्ति कम है और जो निषेक कम परमाणुओं का बना, उसमें उन ५१२ वालों से कई गुणी अनुभाग शक्ति है। आज विज्ञान सिद्धान्त भी यही कहता है कि जितना छोटा एटम बनेगा उतनी शक्ति बढ़ेगी। कैसी-कैसी विचित्रताएँ हैं और शरीररचना को देखकर लोगों की आदत चाल-चलन व्यवहार इच्छा निरखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि कर्म भी कितने विचित्र हुआ करते हैं? इतनी विचित्रता कर्मों में किसने उत्पन्न की है? इस आशंका का उत्तर इस गाथा में किया गया है।

अकृत रचना—जिस प्रकार बहुत से पुद्गल द्रव्यों का बहुत प्रकार से जो उनकी रचना हो रही है वह किसी भी पर के द्वारा नहीं की हुई देखी गई है, इसी प्रकार कर्मों की भी बात जानना। करना किसका नाम है? जीव ने भाव किया। उन विभावों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा यदि कर्मरूप बन गई तो इसमें करना क्या हुआ? जीव ने उनमें क्या किया? वे हो गई निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप। यह बात यहाँ भी घटा लो। कुम्हार ने घड़ा बनाया, कुम्हार जीव कितना है भीतर निरखो। उस जीव ने इच्छा की, और अपने प्रदेशों में इच्छा के अनुकूल योग हलन-चलन किया, इतने तक ही तो वह करने वाला हुआ, इसके आगे कुछ नहीं किया। अब ऐसा यहाँ हो बैठा तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि शरीर भी हिल उठा और उस अनुकूल फिर उस प्रसंग में फंसी हुई मिट्टी भी घड़ेरूप परिणम गई। कुम्हार ने वहाँ क्या किया? जीव की भीतर की रचना निरखकर सोचियेगा सब। कोई लोग विवाह बारात में फटाका छुटवाते हैं। उस फटाका में ऊपरी हिस्से में फटाका घालने वाले ने आग धर दी, इतना भर ही उसने किया, वस्तुतः उसने इतना भी नहीं किया, पर व्यवहार से मान लो कि उसने आग धर दी, इसके बाद फिर उस फटाके का जो कुछ भी हुआ वह फटा का घालने वाले पुरुष ने नहीं किया, वह फटा का अपने आप ही जल गया। वह घालने वाला पुरुष उस फटाके से चिपककर फोड़ता हो, ऐसा नहीं है।

अन्य के द्वारा पर में अकर्तृत्व—भैया! सभी बातों में घटा ली, आप हम किन्हीं भी बाहरी पदार्थों में कुछ नहीं करते, पर मान रखा है सब कुछ कि यह मैंने किया, इसने किया। इस ही विकल्प का तो सारा विवाद है परस्पर का। घर में, समाज में, देश में, दुनिया में मैंने किया, इसने किया, इसी बात का सारा विवाद है, और किया कुछ नहीं है। बात कुछ नहीं है और झगड़ा इतना बढ़ गया है। अच्छा यहाँ देख लो अपनी सृष्टि में, इस जीव को बड़े विचित्र-विचित्र शरीर मिलते रहते हैं। मगरमच्छ, केचुवा, हाथी, घोड़ा, कीट, पतिंग, न जाने किसकिस तरह के विचित्र शरीर इस जीव के हैं? इन विचित्र शरीरों को किसने बनाया, जीव ने क्या किया? जरा भीतरी दृष्टि से इस पर विचार तो कीजिए। जीव ने कुछ नहीं किया। उसने तो केवल मिथ्याभाव किया, पर को यह मैं हूँ, इतना मानने का भाव किया।

भावात्मक अपराध—क्यों जी, परधन के प्रति यह मेरा है ऐसा मन में कोई माने और आपकी चीज न छीने, आपको न छेड़े तो आप उसे बड़ा अपराधी तो नहीं मानते। विकल्प कर रहा है, सोच रहा है सोचने दो। आपकी चीज छीने झपटे तो आप उसे डाटेंगे। लेकिन यहाँ तो देखो-केवल भाव ही किया और कुछ किया नहीं, न कर सके, लेकिन दण्ड इतना मिला है कि ऐसे विचित्र शरीरों में फंसना पड़ा है, और इतना ही नहीं, शरीरों को छोड़-छोड़कर विचित्र नये-नये शरीरों को धारण करता रहेगा, यह कितना बड़ा झगड़ा है? लोग तो हवेली बन गई, बढ़िया औँगन बन गया, बैठक बन गयी, तो बड़ा सन्तोष मानते हैं, अब हमने सब कुछ कर लिया, अब हम निरापद हो गये। और यह शरीरों के मिलते रहने का झगड़ा तो अभी लगा हुआ है। अभी खैर नहीं है। चाहे महल बनवा लो, चाहे बड़े-बड़े मिल कर-खाने खोल लो, पर अभी खैर नहीं है। इतना बड़ा झगड़ा, इतनी बड़ी विपदा इस जीव पर पड़ी हुई है केवल एक मिथ्या कल्पनायें बनाने के अपराध में।

भावापराध का कठोर दण्ड—कोई न कुछ सा अपराध करे और उसे आप दंड दे दें तो लोग आपका नाम धरते हैं, न कुछ सी बात पर इसे पीट दिया, यह कितना बड़ा आपने अन्याय किया, माप बड़े जालिम हो, यों पिक्कार देते हैं और यहाँ तो किसीने कुछ छीना नहीं, कुछ नहीं किया, अपने ही भीतर में ऐसा भाव होने लगा कि यह शरीर मैं हूँ, इतनी सी बात का इतना कठोर दंड मिला कि इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ यह जीव अनन्त बार पैदा न हो चुका हो? तब समझ लीजिए कि यह छोटासा अपराध नहीं है, यह सर्वाधिक महान अपराध है इस जीव के क्लेश के लिए। परद्रव्यों को ऐसा स्वीकार करना कि यह हैं हूँ, लो यही महान अपराध हो गया। जिसके फल में यह महती विपदा भोगनी पड़ी हे, कहाँ सन्तोष करते हो? किस कार्य की सिद्धि में तुम सन्तुष्ट होकर अपने को कृतार्थ मानते हो? निजस्वरूप की सुध न हो, दृष्टि न हो तो सब बेकार जीवन है।

कर्मों की प्राकृतिक विचित्रता व एक दृष्टान्त—यह कर्मों की विचित्रता न किसी दूसरे जीव ने की और न खुद मैंने किया। जो मुझ में बँधे हुए कर्म हैं उनकी विचित्रता मैंने उत्पन्न नहीं की। मुझे तो इनका पता भी नहीं रहता, मुझे तो ये दिखते भी नहीं। हाँ आगम बल से हम आपने जान लिया है, पर जब आगम न खुश था तब की बात सोचो। कुछ कर्मों की बात जानते थे क्या? हम उनमें कुछ नहीं करते, वे होते हैं अपने आग। हाँ हम निमित्त अवश्य हैं। जैसे संध्या काल के समय अथवा प्रातःकाल चन्द्र अथवा सूर्य का सन्निधान पाकर बादल लाल पीले हो जाते हैं तो वह ललाई किसने किया? न इन्द्र आकर करने गया, न कोई राजा करने गया, न सूर्य, चन्द्र आदि करने गये, वह बिंब तो अचेतन की भाँति है, किसी परद्रव्य में कुछ बात करने का जिन में आशय नहीं बन रहा वे तो अचेतन की तरह हैं। भले ही एक इन्द्रिय जीव हैं ये चमकीले पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय का जिसके लिए है उसके लिए है। यह विचित्र बादल की ललाई किसी की बनाई हुई नहीं है, यह तो किसी दूसरे का योग्य निमित्त पाकर अपने आप हुई है अथवा बरसात के दिनों में कभी-कभी बादल पर अर्द्धवृत्ताकार इन्द्रधनुष बन जाता है। उसमें कैसे सीमित रंग आ जाते हैं, यह सब किसने किया? योग्य ज्ञानावरण पाकर स्वयमेव उस रूप परिणम गया ना।

प्राकृतिक विचित्रता पर अन्य दृष्टान्त—और भी देख लीजिए भैया! देहरादून मंसूरी के पास की जो बरसाती नदियाँ हैं उनमें कैसे विचित्र गोल-मटोल बढ़िया आकार के पत्थर हैं? उनको किसने बनाया? और योग्य सन्निधान होने पर वे स्वयं उस आकार में परिणम गये। किसी ने प्रोग्राम रखा हो उनके बनाने का और फिर बनाया हो, ऐसा तो नहीं है। उन पत्थरों में वह विचित्रता तो अपने आप आयी। तो जैसे ये अनेक पुद्गल स्कंध अन्य कर्ता की अपेक्षा बिना स्वयं उत्पन्न हो गए हैं, निमित्त के सन्निधान की बात बराबर है, पर जो परिणाम है उसके भीतर की बात तो निरखो। निमित्तभूत पदार्थों ने स्वयं अपना परिणमन तो नहीं किया। तो जैसे ये अनेक पुद्गलस्कंध के विकल्प भेद प्रकार अन्य कर्ता से निरपेक्ष होकर, अन्य कर्ता के बिना उत्पन्न हो जाते हैं इस ही प्रकार योग्य जीवपरिणाम का सन्निधान पाने पर ये कार्माण, ये ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिक बहुत प्रकारों के कर्म बिना अन्य कर्ता के अर्थात् स्वयं उपादान कर्ता से ही ये सब कर्म स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।

तत्त्वज्ञान—भैया! वस्तुगत सीमा की दृष्टि बन जाना यहीं तो तत्त्वज्ञान है। किसी भी परिस्थिति में आप कहीं कुछ भी बाहर में परिणाम नहीं करते हैं, अपने जीव तत्त्व को संभालो और उस ही को निरखकर देख लो, मैं किसी भी पर में कुछ करता हूँ क्या? केवल विकल्प इच्छा योग करता हूँ। हम योग और उपयोग के कर्ता हैं, इससे आगे जो कुछ होता है अपने आप होता है। हाँ इसमें निमित्त जीव का मिथ्यात्व रागादिक परिणाम है और ये परिणाम जीव में जीव के उपादान से हुए हैं। ये हुए हैं इस ही स्थिति में कि यह जीव निज कारणसमयसार की दृष्टि से रहित है, इसके अपने सहजस्वभाव का श्रद्धान नहीं है, प्रतिभासात्मक सच्चिदानन्द स्वभाव का इस जीव को ज्ञान नहीं है, इस कारण जीव में मिथ्यात्व रागादिक परिणाम उपजते रहे आये हैं। अब उनका तो पाया निमित्तमात्र और यहाँ कार्माण वर्गणायें योग्य पुद्गल स्वयं कर्मरूप बनीं तो उपादान जीव ने नहीं किया। जो उन कर्मोंरूप

नहीं परिणमा और यह उन परिणामों का निमित्त पाकर मूलभेद उत्तरभेद नाना प्रकृतियों में ये कर्म परिणम गये हैं ।

चेष्टाओं में अकर्तृत्व—वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की पद्धति की बात अपनी हर एक बात में घटाते भी जाइये । यह तो कर्मों की बात कही । हाथ उठाना, हाथ जोड़ना, अंगुली मटकना, जिहा, ओंठ चलाना, पलक उठाना, गिराना, कुछ भी तो चेष्टा यह जीव नहीं किया करता । जीव तो अंतः निर्दोष केवलज्ञान इच्छा और योग प्रयत्न करता है । वह प्रयत्न भी अपने प्रदेशों में चलने चलाने रूप किया । इस जीव को चाहे उपचार से कर्ता कह लीजिए, पर इसने निजस्वरूप से बाहर कुछ नहीं किया । और देखो सिस्टेमेटिक हाथ पैर हिलते, सारी बातें ढंग से हो रही हैं, पर जीव यह कुछ नहीं कर रहा है । केवल जीव के भावों का निमित्त पाकर यह सब स्वयं हो रहा है । ऐसे इस जीव की भीतर की रचना को ज्ञानी संत यहाँ बतला रहे हैं कि कर्मों की यह सारी विचित्रता जीव के भावकर्म से स्वयं हुई है ।

जीवा पोग्गलकाया अण्णोण्णागाढग्हणपडिबद्धा ।

काले विजुज्जमाणा सुहुदुःखं दिंति भुंजंति ॥६७॥

भोक्तृत्व अन्तराधिकार—निकटपूर्व में यह आशंका की गयी थी कि कर्म यदि वर्म को करते हैं और आत्मा-आत्मा को ही करता है तो कर्म उसे फल कैसे देता है, और आत्मा कर्म का फल कैसे भोगता है? इस आशंका में दो भाग हैं-एक कर्तृत्व के विषय में शंका और एक भोक्तृत्व के विषय में शंका । कर्तृ त्व सम्बंधी शंका का समाधान कर दिया गया है और भोक्तृत्व सम्बंधी शंका का समाधान किया जा रहा है अथवा इस ग्रंथ में पूर्व रंग के बाद एक अधिकार सूचक गाथा कही गयी थी कि यह जीव है, चेतयिता है, उपयोगविशेषित है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रभु है, कर्मसंयुक्त है आदि । उन अधिकारों में कर्तृत्व अधिकार तो यहाँ समाप्त किया गया है, अब भोक्तृत्व अधिकार की बात कह रहे हैं ।

व्यवहार का अविरोध—इस गाथा में यह बात दिखायी है कि निश्चयदृष्टि से जीव-जीव का कर्ता है और कर्म-कर्म का कर्ता है, फिर भी व्यवहार से जीव कर्म प्रदत्त फल का भोक्ता होता है, इस बात का विरोध नहीं है । जीव और पुद्गलकाय, जीव और कर्म में अन्योन्यावगाह ग्रहण से प्रतिबद्ध है अर्थात् इनका परस्पर में एक क्षेत्रावगाह और निमित्तनैमित्तिक बन्धन है । जब ये कर्म अपने समय पर वियुक्त होते हैं तो सुख दुःख को देते हैं और आत्मा सुख दुःख को भोगता है । निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि के कथन का क्या अंतर है? इसको जरा एक दृष्टांत से सुनिये ।

नीलरंग व भीत का सम्बंध व्यवहार—यह भीत नीले रंग से पुती हुई है । लोग क्या कहते हैं कि इस नीले रंग ने भीत को नीला कर दिया, पर यथार्थतया यह तो बतावो कि नीले रंग में नीले रंग ने वह नीला रंग किया या भीत में? नीला रंग जो पहिले डिब्बी में एक ढेले के रूप में था अथवा एक पाउडर के रूप में था, अब वह नीला रंग एक बहुत पानी में आकर उस पानी का निमित्त पाकर और कूची वगैरा साधनों का निमित्त पाकर वही रंग जो ढेले के रूप में था वह अत्यन्त पतला बनकर इतने में फैल गया । इस नीले रंग ने भीत को नीला नहीं किया । इस रंग के भीतर भीत तो वही की वही है । इस रंग ने रंग को ही नीले विस्तार में फैला दिया, लेकिन व्यवहारदृष्टि से तो यह कहा जा रहा है और लोग इसे बहुत ठीक मानते हैं कि हाँ इस नीले रंग ने सारी भीत को नीला बना दिया । क्या किया इस नीले रंग ने? नीले रंग को नीला किया, इस बान का विश्लेषण यदि कराये तो कुछ थोड़ासा कठिन पड़ता है ।

नील का नील में सर्वस्व—नीले ने नीले को नीला किया, तो वह नीला दूसरा कुछ है क्या जिसको नीला किया और वह नीला दूसरा-दूसरा कुछ है क्या, जिसने नीला किया । कोई अन्य चीज है क्या? नहीं है । यह नीला रंग किसका है? लोग कहेंगे कि यह भीत का है नीला रंग । क्या यह भीत का है नीला रंग? यह तो नीले रंग का नीलापन है, भीत का नहीं है, वह नीलापन

उसी नीले रंग का है। इस नीले रंग ने अपने को भी कुछ नहीं किया। यह था पाहिले और भाँति, पर्यायरूप से अब हो गया और भाँति।

अन्य का अन्य पर मोहपरिणमन का अभाव—अब जरा और उतरकर देखो। लोग कहते हैं कि इसने अपने पुत्र पर बड़ा मोह कर रखा है। क्या इस पिता के जीव में ऐसी सामर्थ्य है कि वह इस दूसरे जीव पर मोह कर सके। किसी भी वस्तु की कोई भी परिणति उस वस्तु के प्रदेश के बाहर त्रिकाल भी नहीं हो सकती। यह एक अमिट सिद्धान्त है। कहीं घटा लो। यह पिता का जीव जितना है। विस्तार में उस जीव में जो भी तरंग उठेगी वह तरंग उन प्रदेशों में ही उठेगी। इसका मोहरूप परिणमन होता है तो इसके प्रदेशों में वह मोहरूप परिणमन होता है। तब इसने अपने आप में मोहरूप परिणाम को किया और भोगा। दूसरे जीव पर मोह नहीं किया, न दूसरे जीव पर मोह भोगा। किन्तु कोई पूछे कि जीव तो न्यारे सभी हैं। इसी जीव के बारे में इसी पुत्र के सम्बंध में अपना मोह किया, इस प्रकार का व्यवहार क्यों बना? अन्य जीव पर क्यों व्यवहार नहीं बना? उसका कारण यह है कि इस पिता के जीव के मोहरूप परिणाम का आश्रयभूत यह पुत्र जीव है, इसलिये यह व्यवहार बन उठा कि इसने पुत्र पर मोह किया। कोई किसी पर मोह नहीं कर सकता, न प्रेम कर सकता, न द्वेष कर सकता। जो कोई जो कुछ कर रहा है अपने आप में विकार परिणाम कर रहा है। पर मेरा जो आश्रयभूत है, जिस पर को विषय में लेकर यह मोहपरिणाम की तरंग उठती है, उपचार उसी पर किया जाता है कि इसने इस पर मोह किया। निश्चय से बात ऐसी है और ऐसी ही स्वतंत्रता कर्म को कर्मरूप परिणमन में है। यहाँ पर निमित्त की बात बराबर मानकर भी अंतः की बात निरखने पर अंतः के नाते ही पूरे गोर से निरखा जाय तो बात सम्मत हो जाती है।

अन्तः स्पष्ट निर्णय—भैया! अन्य धर्म का विरोध करके देखने पर भी बात ठीक नहीं जमती और जिस दृष्टि से देख रहे हैं, उस दृष्टि का जोर न देकर भीतर में सशंक होकर कि वह भी तो एक दृष्टि है, हम ऐसा जानने से कुछ रुके, इसमें भी ज्ञान की दृढ़ता नहीं आती। हम दाहिने तरफ की भीत को देखें तो दाहिने तरफ की ही सारी बातें नजर में आयेंगी ना? और कोई ऐसी शंका करे कि दाहिनी भीत ही क्यों देख रहे, यह भी तो है, और है ठीक है, उसे जान लिया, समझ लिया, हम को यहाँ के देखने की अभिरुचि है। कितना अच्छा रंग पुता है, कितने अच्छे चिन्ह लगे हैं तो हम इनको देख रहे हैं। पर, दृष्टि में शंका रखना और पर की दृष्टि का विरोध करनाये दोनों तत्वज्ञान के बाधक हैं। तो यह जीव और पुद्गलकाय निश्चयदृष्टि से अपने आप में अपना ही परिणमन करता है, फिर भी व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो यह अन्योन्यावगाह से प्रतिबद्ध है, यह उस बन्धन में है और जब यह पुद्गलकाय अपना समय पाकर वियुक्त होगा, निकलेगा, उदित होगा, तो यह सुख दुःख को देता है और आत्मा कर्मों का फल प्राप्त करता है।

जीव और कर्म का परस्पर अवगाह व बन्धन—जीव में मोह रागद्वेष का चिकनापन है और पुद्गल स्कंधों में भी स्वभावतः स्निग्ध गुण है। यह केवल एक किसी नाते के साथ समझाने के लिए कहा गया है। कहीं यह बात नहीं है कि कर्म वर्गण के स्निग्ध गुण के कारण जीव में कर्मबन्ध हुआ। उनका कर्मों की स्निग्धता का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नहीं है। वहाँ तो जीवपरिणाम का और उस वर्गण में अन्तः रहने वाली योग्यता का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, लेकिन एक बात प्रसिद्ध है व्यवहार में देखे हुए पुद्गल स्कंधों के बन्धन में यह चिकना, रूखा गुण के कारण बँध जाता है, तो उस बन्धन को अलंकार रूप में भी समझने के लिए यह कहा जाता है कि जीव में भी ट्रेन का रूखापन भरा है, राग की चिकनाई भरी है और इस पुद्गल में भी रूखापन और चिकनाई स्पष्ट है। लो यों बन जाता है, यह अलंकारिक कथन है। तात्पर्य यह लेना कि मोह रागद्वेष विभाव परिणामों का निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो जाती हैं। जैसे कि ये परमाणु परस्पर एक दूसरे में अवगाहरूप से प्रतिबद्ध हैं ऐसे ही यह

जीव और कर्म परस्पर में एक दूसरे के अवगाह रूप से प्रतिबद्ध हैं।

कर्मफलोपभोग—अब ये बद्ध कर्म जीव से वियुक्त होते हैं अर्थात् जीव प्रदेश में से ये कर्म उदित होते हैं, निकलते हैं तो इन कार्माण्ड्रव्यों का कर्मत्व दूर होता है तो ये कर्म कहलाते हैं उदित प्रच्यवमान। उदय में आकर निकले हुए ये कर्मप्रच्यवमान और-और प्रकार से भी होते हैं। निर्जरा के रूप से प्रच्यवमान और यह है उदित रूप से प्रच्यवमान। तो जब उदय से आकर ये निकलते हैं तो निश्चय से यह जीव सुख दुःखरूप अपने आत्मा को भटकाने वाला होता है और व्यवहार से इष्ट अनिष्ट विषय का निमित्तमात्र होने से कहा जाता है कि ये पुद्गल वर्गणायें इस जीव को सुख दुःखरूप फल दिया करती हैं। निमित्तनैमित्तिकता के कारण पदार्थ में एक का दूसरे में कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वामित्व आदि सम्बंध बताया जाता है, वह सब उपचार कथन है। अब कर्म कर्मरूप परिणमते हैं निश्चय से ऐसा होने पर भी उस सम्बंध में जैसे कर्तृत्व की बात कही थी कि जीव उनका कर्ता है इसी तरह से यहाँ भी बात लो कि कर्म जीव को फल देते हैं, जीव कर्म के फल को भोगते हैं। जिस निमित्त से फल मिला उस निमित्त पर यह व्यवहार किया जाता कि उसने फल दिया।

उपादानोपादेय भाव व निमित्तनैमित्तिक सम्बंध—गाली देने वाले ने दूसरे पुरुष को यदि क्रोध उत्पन्न कर दिया तो यह उपचार कथन है कि इस गाली देने वाले ने इस जीव को क्रोध उत्पन्न कर दिया। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उस क्रोधी ने अपनी क्रोध पर्याय में अपने को ही क्रोधी बनाया, ऐसे ही कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव ने जो दुख दुःख आदिक फल भोगा है उसमें ऐसा उपचार किया जाता है कि कर्म ने जीव को फल दिया है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध को कोई खण्डित नहीं कर सकता। और फिर भी प्रत्येक उपादान अपने आपके स्वरूप में अपनी योग्यता से परिणमते हैं, इसका भी कोई खण्डन नहीं कर सकता है, और इस निर्णय में फिर यह बात घटित हो जाती है कि जीव ने जीव को ही किया और जीव ने कर्म को किया। कर्म ने कर्म को किया, कर्म ने जीव को फल भी दिया। ये दोनों बातें जिस विशाल ज्ञान में विरोध को प्राप्त नहीं होती हैं वह एक स्याद्वाद की कृपा से ही विशाल ज्ञान प्राप्त होता है।

सुख दुःख की विकाररूपता—इस जीव में जो सूख दुःख परिणाम होता है ये दोनों के दोनों विकार हैं, इनमें से सुख उपादेय है और दुःख हेय है, ऐसा निर्णय न करो, ये सुख दुःख दोनों ही हेय हैं। संसार के सुख आकुलता बिना नहीं भोगे जाते हैं। निराकुलता रूप तो एक आत्मीय सहज आनन्द है। उससे विपरीत आकुलता के उत्पादक ये हृष्ट विषादरूप बाह्य इष्ट अनिष्ट विषयों की प्रीति रूप जिसका विपरीत रस है, आत्मीय शान्ति से विरुद्ध जिसका रस है, ऐसे सांसारिक सुख दुःख यह जीव अपने स्वरूप की दृष्टि पाये बिना भोगता चला आ रहा है।

आत्मवैभव—सब से उत्कृष्ट वैभव क्या है? आत्मदृष्टि। इसके मुकाबले बाहर में कुछ और भी वैभव है क्या? एक अपना साहसपूर्वक निर्णय कीजिए। जहीं अपना उपयोग परमविश्राम को प्राप्त होता है वहीं तो एक सर्वोत्कृष्ट ग्रहण करने की चीज है। बाह्य वैभव जड़ सम्पदा ये सब पौद्गलिक ठाट-बाट इनमें फंसकर इस जीव को चैन मिलती हो तो अपने अनुभव से सोचो। और कभी कुछ थोड़ी बहुत चैन मिले तो समझिये कि बहुत बड़े क्लेश से हटकर कुछ कम क्लेश में आये हैं। वस्तुतः वह चैन नहीं है। जैसे किसी को बहुत बुखार हो, मान लो १०४ डिग्री बुखार है अहै उत्तरकर १०० डिग्री बुखार रह जाय तो वह कहता है कि अब मुझे चैन है। वस्तुतः चैन नहीं है, अभी तो दो डिग्री बुखार है, पर वह कहता है कि अब हम चैन में हैं। इस ही प्रकार ये संसार के जीव विषयों की लालसा से दुःखी होते जा रहे हैं। कदाचित् कोई किसी विषय में लालसा कम हुई तो उस प्रसंग में यह व्यवहार किया जाता है कि मुझे कुछ शान्ति मिली है। वस्तुतः शान्ति तब ही है जब इच्छावों का अभाव हो जाय। ये इच्छायें इस जीव को चैन नहीं उत्पन्न करने देती हैं। किसी समय किसी क्षण इन विकारों से उपेक्षा भाव कर देवे और उस उपेक्षा

भाव के कारण अपने आपके स्वरूप की स्मृति जगे, जगेगी ही तो उस स्वरूप के अनुभव में जो आनन्द उत्पन्न होता है वास्तविक आनन्द वह है ।

अन्तः कल्याण—अब यदि आप गृहस्थी के जाल में फँसे हैं तो लोगों की जान में तुम फँसे ही बने रहो, नहीं तो लोग तंग करेंगे। कोई ऐसा उपाय रचेंगे लोग कि वे आपको हैरान करेंगे। तो तुम सब लोगों की जान में फँसे तो बने रहो, लेकिन भीतर में गुप्त होकर अपना काम कर जाओ। इसी उपाय में खैर है और उपायों में तो विपत्ति है। दूसरा उपाय करना हो तो फिर एकदम प्रकट चौड़े में आकर करो, गृहस्थी में रहकर और बड़ी ऊँची विरागता की बातें, परिवार के लोगों को जताये तो धुर के लोग तो यही समझेंगे कि ऐसा कहने की इनकी आदत है, है कुछ नहीं। और इससे लाभ क्या? अपना काम अपनी समझ में गुप्तरूप से ही अपने अन्तरङ्ग में करते जाइये। इसे कौन रोकता है? अभेदभासना, स्वरूपदृष्टि सब कुछ उत्सुकता बनाये रहे और इस ही ओर अपना कदम बढ़ाते रहें, बाहर के जीवों में अधिक पड़ने से कुछ लाभ नहीं है। यह जीव अपने किये का फल स्वयं भोगता है और जिस प्रकार कर्मों का उदय हुआ है उस अनुरूप भोगता है। व्यवहार से यह जीव कर्मफल को भोगता है, निश्चय से अपने परिणामों को भोगता है। भोगने के सम्बन्ध में दोनों दृष्टियों से यह निर्णय बनाइये और विभाव फल भोगने से बचने का अन्तरङ्ग पुरुषार्थ कीजिए ।

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संज्ञुदोध जीवस्स ।

भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥६८॥

कर्तृत्व व भोक्तृत्व के व्याख्यान का उपसंहार—जीव किसका कर्ता है और किसका भोक्ता है—इन दोनों विषयों का वर्णन कर के अब इस गाथा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की व्याख्याकार उपसंहार किया गया है, जब कि निश्चय और व्यवहारन्य के विभाव से यह सित हो गया कि जीव और कर्म परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्ता मही हैं। निश्चय तो एक दूसरे का उपादान कर्ता मानता ही नहीं है। व्यवहारन्य से भी उपादान कर्ता एक दूसरे का नहीं कहा गया है। इतना तो पूर्ण सुनिश्चित है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का उपादान कर्ता नहीं होता है, फिर भी यह बात भी नहीं टाली जा सकती है कि किसी द्रव्य में जो विरुद्ध विभाव परिणमन होता है वह किसी पर के सञ्चिप्त बिना नहीं होता है, वहीं निमित्त पाकर ही विभाव परिणति होती है ।

नयविभाग से कर्तृत्व और भोक्तृत्व—इन दोनों नय विभागों से यह निष्कर्ष निकला कि कर्म उपादान दृष्टि से अपने परिणमन का कर्ता है। कार्माणवर्गण में कर्मत्वरूप परिणमन का कर्ता निश्चय से कर्म है और ये कर्म व्यवहारदृष्टि से, जीव के रागद्वेष आदिक भावों का कर्ता है। इस प्रकार कर्म अपना तो निश्चय से और जीव परिणामों का व्यवहार से कर्ता है। जीव निश्चय से अपने भावों का कर्ता है और व्यवहार से द्रव्यकर्म का कर्ता है। कर्ता के विषय में एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध जोड़ दिया गया है किन्तु भोक्ता के बारे में किसी भी नय से कर्म का जीव से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है। जैसे क्या यह कहा जा सकता है कि कर्म अपने को भोक्ता है और यह कर्म किसी जीव के परिणाम का भोक्ता है। नहीं, क्योंकि कर्म अचेतन हैं और निश्चय से भी कर्म में व्यवहार से भी पर के भोक्तृत्व की बात नहीं लादी जा सकती है ।

जीव के अकर्तृत्व व भोक्तृत्व के सिद्धान्त की उपपत्ति—देखो ना भैया! इसी कारण सांख्यसिद्धान्त में जीव को अकर्ता तो माना है, पर अभोक्ता नहीं माना है। जीव रागादिकभावों का करने वाला नहीं है। सांख्यसिद्धान्त की दृष्टि से इसको निरखिये। जीव रागद्वेषादिक भावों का कर्ता नहीं है क्योंकि रागद्वेषादिक भावों को करने वाली प्रकृति है। वह प्रकृति क्या स्वरूप रखती है? इसका स्पष्ट वर्णन तो कहीं नहीं मिलता। हाँ जैनसिद्धान्त इस प्रकृति को एक कार्माणवर्गण के रूप में पुङ्गलद्रव्य को एक विभाग मानता है और जैन सिद्धान्त में प्रकृति को व्यवहार से रागादिक परिणामों का कर्ता कहा है। इसी मर्म के कारण एकान्ततः

प्रकृति ही कर्ता है ऐसा मान लिया जा सकता है, पर जब भोगने का प्रस्ताव आया तब उस समय कर्म को भोगने वाला नहीं कहा जा सकता।

दार्शनिकता में नितान्त निराधारता का अभाव—भैया! एकदम गप्प कहीं फबती नहीं है। प्रकृति को कर्ता कह दिया है रागादिक भावों का यह तो कुछ खपसा गया, क्योंकि व्यवहारदृष्टि से कर्म जीव के रागादिक भावों का कर्ता है। कुछ थोड़ी सी गुआइश देखकर हठ बनाने की बात तो थोड़ी चल भी सकती है किन्तु जहाँ कुछ भी नहीं है, तिल भी नहीं है तो ताड़ कैसे प्रसिद्ध किया जा सकता हेतु और ऐसा प्रसिद्ध करने में बात यों नहीं फब सकती। मान लो कह दिया जाय कि ये कर्म सुख दुःख फल को भोगने वाले हैं। अच्छा ठीक है, पर सुख दुःख फल का कर्म भोक्ता है तो यह कर्म ही, करे कुछ उद्यम अगर इसे दुःख से बचना है। हमारा क्या उसमें बिंगड़ा और सुनने वालों को भी रुचिकर नहीं हो रहा है कि कर्म रागादिकभावों का अथवा सुखं दुःखं का भोगने वाला है, इस पर कोई जरा भी दिलचस्पी विश्वास नहीं रख सकता। अतएव कर्म एक भी नय से सुख दुःख परिणाम को भोगने वाला नहीं है।

कर्तृत्व का कारण—यह कर्तृत्व जीव में क्यों आया? इसका कारण है संयुक्तता। अच्छे कुल के सदाचारी बालक के जैसे विरुद्ध व्यवहार करने का साहस बन जाय तो जैसे यह बात किसी दुष्ट संग के बिना नहीं हो पाती है इस ही प्रकार जाननहार जिसका स्वभाव है, जिसका बहुत निर्मल पवित्र कुल है ऐसा ज्ञायकस्वभाव इस आत्मतत्त्व में विपरीत भाव आ जाय, रागद्वेष ये ही दुराचार हैं जीव के, तो ये दुराचार किसी पर के संयोग बिना नहीं आ सकते हैं, जीव का सदाचार है केवल ज्ञातादृष्टा रहना। कोई अन्तरङ्ग में राग विरोध वाली तरंग नहीं उठती। इसके विरुद्ध जो भी परिणमन होता है वह जीव का दुराचार है, समस्त दुराचार परप्रसंग में हुआ करते हैं।

विपरीत आचरण—लोग मानते हैं कि हम अपने घर में रहते हैं, कमाते हैं, अन्याय नहीं करते, रोज ताजा बनाते हैं; कोई अभक्ष्य भी नहीं खाते, मौज से रहते हैं, अपने काम से काम है तो मैं तो बड़े सदाचार से रहता हूँ। अरे किसी भी परपदार्थ में ममता होना, राग जगना यह जीव का दुराचार है। जब आध्यात्मिक दुराचार वाले जीवों का समूह जुड़ गया है तब उनके बीच में दुराचार की स्थूल और व्यावहारिक व्याख्या बनी है। हिंसा करना, झूठ बोलना, कुशील सेवन करना, परिग्रह में तृष्णा की बुद्धि रखना, ममता करना—ये सब दुराचरण हैं तो ये तो दुराचरण हैं ही, पर इस आत्मा के कुल की बात तो निरखिये। इस आत्मा के कुल में क्या करना आत्मा के योग्य है? जो सिद्ध भगवान करते हैं, जो अरहंत भगवान करते हैं वही योग्य काम है। इससे पहिले छब्बस्थ अवस्था में और अविरत मिथ्यात्व अवस्था में जो भी व्यवहार विचार उठता है वह इस ब्रह्मस्वरूप के विनाश के मुकाबले में सब विपरीत आचरण है। इस आत्मा का यह आत्मा ही सर्वस्व है—इस ज्ञान का ज्ञान रखना ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है।

आत्मा का पितृत्व—आत्मा का पिता आत्मा, आत्मा का पुत्र आत्मा। आत्मा की रमणी आत्मा, आत्मा का वैभव आत्मा। यह तो स्वयं प्रभु है। पिता कहते हैं उसे जो रक्षा करे। पाति इति पिता। पा रक्षणे धातु है जिसका अर्थ रक्षा करना है, जो रक्षा करे उसका नाम पिता है। मेरी आत्मा की रक्षा करने वाला कोई दूसरा हो सकता है क्या? खूब हिल-मिलकर रहकर सब तो निरख लिया, होगा। आपका ज्ञान काबू में न रहे तो आप दुःखी हो जाते हैं। आपका ज्ञान आपके संयम में रहे तो आप दुःखी नहीं रहते। किसी पुरुष की चित्तवृत्ति बिंगड़ जाय, जिसे लोग कहते हैं पागल होना, ऐसा पागलपन आ जाय तो उसके घर के लोग

रिश्तेदार सब कोई कितना प्यार करके, समझाते हैं, गोद में बैठालकर सिरे पर हाथ फेरकर अपने हृदय से लगाकर बड़ी प्रेमभरी बातों से उसका क्लेश दूर करना चाहते हैं, पर वहाँ क्या असर होता है? उसका तो ज्ञान बिंगड़ गया, पागलपन छा गया, अब वह कष्ट में है। अपना ज्ञान अपने में विशुद्ध रहे, निर्मल रहे, मात्सर्य नहीं, द्वेष नहीं। किसी परपदार्थ में आसक्त न हो, सावधान रहे जिसमें अपने आपकी सुध बनी रहे ऐसा ज्ञान हो तो इस आत्मा को खुद शरण हो गया।

आत्मा का पुत्रत्व—आत्मा का पुत्र आत्मा है। पुत्र किसे कहा है? वंश पुनाति इति पुत्रः। जो वंश को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। जो वंश को पवित्र न करे उसका नाम पुत्र नहीं है। उसका नाम सुत रख सकते हैं। सूयते इति सुतः। जो पैदा हो उसे सुत कहते हैं। इस मुझ आत्मा का वंश है चित्स्वभाव, चैतन्यस्वरूप। वंश उसे कहते हैं जो परम्परा रखता है। मेरा आत्मा इस चैतन्यभाव की परम्परा रखता है, अन्य लौकिक वंश की परम्परा नहीं रखता। आज इस घर में मनुष्य हैं और भरकर कहीं घोड़ा, बैल हो गये तो काहे कायह वंश रहा? क्या कभी यह जीव इस चैतन्य के अन्वय का त्याग कर सकता है? तो इसका वास्तविक वंश है चैतन्य। उस चैतन्य वंश को जो पवित्र करे वह है पुत्र। तो इस चैतन्य वंश को कौन, पवित्र कर सकता है? मैं ही कर सकता हूँ।

जीव की भावप्रधानता—देखिये यह जीव एक भावात्मक भावप्रधान पदार्थ है। जैसे इन पुद्गल ठेरों को हम हाथ में लेकर फेंक सके, दिखा सकें, इस तरह इस आत्मा को प्रयोग में नहीं ला सकते। यह तो एक भावस्वरूप है, और इस भाव में चेतनता बसी हुई है। स्वभाव इसका एक प्रतिभास करते रहने का है। किसने बनाया यह? है यह अनादि से। किसी पदार्थ का स्वरूप कोई बना नहीं सकता। पदार्थ स्वयं अपने आप में त्रिगुणात्मक हैं, समर्थ हैं, त्रिदेवतामयी हैं, उत्पादव्ययधौव्य युक्त हैं। इष्टि, संहार, सनातनता—इस प्रकार त्रिदेवतामयी पदार्थ स्वयं अपने आप हैं। यह जीव भावप्रधान है और चेतना भाव में त्रिगुणात्मक है।

भावप्रधानता के प्रसंग में उद्देश्यपूरक अलंकारिक कथन की भूमिका—इस प्रसंग में थोड़ा अलंकार के ढंग से और उद्देश्य को लक्ष्य में लेकर एक प्रकरण सुनिये—मान लो अपनी कल्पना में कि दुनिया में केवल एक ही चीज है—सत्। यद्यपि यह सत् जाति अपेक्षा एक कहा गया है, व्यक्ति अपेक्षा नहीं। व्यक्ति की अपेक्षा से तो सत् उतने होंगे जितने कि परिणम होंगे। परिणमन जितने में हो जाता है पूरा उतने में एक सत् है। जैसे हमारा सुख परिणमन जितने में होता है उतना मैं एक सत् हूँ। यों प्रत्येक अनुभवन के साथ व्यक्तिभेद है। लेकिन चाहे कुछ भी पदार्थ हो, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल कुछ भी हो, आखिर ये सब हैं तो सत्। तो केवल एक दृष्टि से सत्त्व जाति को निरखो तो सब एक सत् मात्र मालुम होते हैं। किसी दार्शनिक ने तो एकान्तता मान भी डाली कि एक सत् ही सत्त्व है। सद् ब्रह्म है, है यह सब ठीक एक जाति अपेक्षा पर एक बात समझाने के लिए उनकी थोड़ी देर की बात मानकर इस विषय की जानकारी बढ़ायें।

षडात्मकता का एक लोकदृष्टान्त—मान लो सारे लोक में एक ही सत् है। ठीक है रहने दो। अब यों निरखिये कि जो भी पदार्थ होता है वह सदात्मक होता है। उसमें ६ स्वरूप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। जैसे एक यह चौकी है तो चौकी यह तो नाम हुआ। और इसको अपनी बुद्धि से ऐसा मान लिया कि जो यों-यों है ना वह चौकी है, यह स्थापना हो गयी और इस चौकी की जो कुछ पूर्वा पर परिणतियां हैं उन सबको लक्ष्य में लेकर चौकी कहते हैं यह द्रव्य हुआ और चौकी का जो परिणमन है वह भाव हुआ और चौकी का जो क्षेत्र है वह क्षेत्र है, चौकी की जो पर्याय है परिणति है वह काल है।

षडात्मकता का प्रासंगिक रूप—अब इसे कुछ व्यवहारिकता का रूप देने के लिए इसमें यों देखिये, नाम जो शब्द कहा गया वह नाम है। जो व्यवहार चलाने का मूल हो वह नाम है। स्थापना है, जो उसमें ठहरा दे सो स्थापना। छा गतिनिवृत्तौ एक धातु

है जिसका तिष्ठति वर्तमान रूप बनता है। ठहरना उस छाधातु को स्थापना माना। स्थापना मायने ठहराना, द्रव्य मायने पिंड, पदार्थ, जैसे कि किसी चीज को उठा कर बता देते हैं और भाव मायने एक स्वभाव जो कि पकड़ा नहीं जाता। केवल परिणाम। और क्षेत्र, काल स्पष्ट है। सो स्वयं में अभी एक सत् माना था, वह सत् सत्तात्मक हो गया। बात आज एकदम कठिन आ गई कहने में, लेकिन कोई बात कठिन सुनकर भी यह श्रद्धा बनाई जा सकती है कि वस्तु के अवगम में कैसे अनोखे प्रकार हुआ करते हैं?

षडात्मकता में भिन्न-भिन्न प्रधानता—उस एक सत् को अब छांट लो। जो द्रव्यात्मक है वह तो है पुद्गल क्योंकि पिंडरूप पुद्गल ही समझ में आता है। तो द्रव्यप्रधान पदार्थ है पुद्गल, क्षेत्रप्रधान पदार्थ है आकाश, कालप्रधान पदार्थ है कालद्रव्य। यह सब अलंकारिकता की बात चल रही है। केवल मर्म पाने के लिए यह कथन किया जा रहा है। कहीं वह सब एक ही सत् हो और उसका यह अंश निकला हो और उनसे पदार्थ बना हो, ऐसा नहीं है। पर मर्म जानने के लिए बात कही जा रही है। नाम उसे कहते हैं जो चलाये। नाम का काम है चलाना। नाम बिना कोई काम चलता भी है क्या? और लोग तो यों स्पष्ट कह भी देते हैं कि इनका नाम अच्छा चला। तो नाम का काम चलना हुआ करता है। किसी पदार्थ का नाम न धरे तो बात कैसे चले? और चलाना काम है धर्मद्रव्य का। तो नामात्मकता में धर्मद्रव्य का संकेत हुआ। स्थापनात्मकता में अर्धमद्रव्य का संकेत हुआ, क्योंकि ठहराना है काम अर्धमद्रव्य का। अब रह गयो एक भाव। क्या जीव में चलाने ठहराने की प्रधानता है? क्या अवगाह देने की प्रधानता है? जीव में प्रधानता भाव की है।

भावप्रधानता के वर्णन से उपादेय शिक्षा—इस वर्णन से हम अपने हित के लिए क्या निष्कर्ष निकालें कि हम कल्याण के लिए, शान्ति के लिए अपने आपके भावों की प्रधानता को सोची करें। हम कितने लम्बे चौड़े हैं, ऐसा सोचने से ज्ञानानुभूति न होगी। यह जीव वर्तमान में कैसी परिणति रखता है ऐसा सोचने से अनुभव न होगा, किन्तु यह मैं जीव एक चिद्रावात्मक हूँ। एक उस चैतन्यस्वभावरूप अपने आप में मग्न हों तो ज्ञानानुभूति हो जायगी। ऐसा यह अपना पवित्र वंश वाला आत्मा यह अपनी कला से वंश को पवित्र रख सकता है। इस कारण यह आत्मा ही आत्मा का पुत्र है।

आत्मवैभव—आत्मा के गुण और उन गुणों का विकास यही आत्मवैभव है। देखिये—जब कोई चिन्ता नहीं रहती है, कोई परपदार्थ का संकल्प-विकल्प नहीं रहता है उस समय निज विश्राम के कारण जो प्रकाश आनन्द प्राप्त होता है वैभव तो वही है। जिन भगवान को हम प्रायः पूजते हैं उनमें क्या विशेषता है? यही वैभव उनमें प्रकट हुआ है। ये जगत के मनुष्य जड़ वैभव के पीछे लगे हुए? हैं। उन जड़ वैभव की कल्पनाओं में हो अपना उपयोग फंसाये हैं। हमारा वैभव तो यही एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश है, ऐसा पवित्र उल्कष होकर भी जीव सुख दुःख का भोगने वाला है, इष्ट अनिष्ट साधनों का भोगने वाला है, ये सब विपरीत आचरण परसंयोग के बिना नहीं हो सकते।

कर्म में भोक्तृत्व का अभाव व जीव में भोक्तृत्व—यहाँ यह सिद्धान्त स्थित हुआ कि निश्चय से आत्मा आत्मा को करने वाला है, व्यवहार से जीव के रागादिक परिणामों का करनेवाला है। जीव भी निश्चय से अपने भावों का करने वाला है और व्यवहार से कर्मों का करने वाला है। यह तो करने की बात समाप्त की गई, अब भोगने का प्रस्ताव लाया जा रहा है। इसमें भोगने की बात कहते हुए अटक लग गई। किसका भोगने वाला कहा? कर्म अपने को भोगने वाला है, यह भी बात खपती नहीं है। यद्यपि अनुभवन की दृष्टि से चेतन अचेतन पदार्थ सभी अपने स्वरूप का अनुभवन करते हैं, पर वहाँ उस अनुभवन का अर्थ परिणमन है। परमार्थ से तो जीव सुख दुःखादिक को भोगता है, जीव के भावों को भोगता है। यह भी ठीक नहीं बनता। तो जैसे दोनों नयों से कर्मों को कर्ता कहा गया था, यहाँ किसी भी नय से कर्म को भोक्ता नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चैतन्य पूर्वक अनुभव का

सद्वाव कर्म में नहीं है। चेतनपन होने से केवल जीव ही कर्म के फल भूत और कथश्चित् आत्मा के सुख दुःख परिणाम को भोगता है। और व्यवहार से इष्ट अनिष्ट विषयों को कथश्चित् भोगता है।

शुद्ध स्वरूप की प्रतीति—इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व के विषय में यह सब कुछ स्पष्ट कर दिया गया है। इसमें हम यह लक्ष्य बनायें कि न तो मेरे कर्मों का सम्बंध है निश्चयतः और न रागादिक परिणामों से सम्बन्ध है निश्चयतः न सुख दुःख आदिक से सम्बंध हैं। कोई सीधे पर है, कोई नैमित्तिक भाव से होने से पर है। मैं तो एक ध्रुव शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप हूँ, इस प्रतीति में हमें शान्ति का मार्ग मिलेगा।

एवं कृता भोक्ता होज्ज्ञं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।

हिंडिपारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।६९॥

कर्मसंयुक्तता में प्रभुता—अब कर्मसंयुक्त के रूप से प्रभुत्व गुण की व्याख्या की जा रही है। यह जीव प्रभु है, समर्थ है, यह कर्ता है, भोक्ता है, और प्रभुता की व्यक्ति में इस समय कर्मों से सहित होता हुआ मोह से आक्रान्त होकर इस अपार संसार में भी घूम रहा है, यह भी एक जीव की प्रभुता है। जब यह कर्मसंयुक्त रहता है तब यह प्रभु अपनी कैसी प्रभुता प्रकट करता है और जब कर्मरहित होता है तब यह अपनी कैसी प्रभुता प्रकट करता है? जैसे किसी पुरुष में बहुत बल है, अब उस बल का प्रयोग दूसरे जीवों के सताने में कर रहा है, तो भी बल का माहात्म्य तो है ही और फिर कदाचित् वहाँ से मुख मोड़कर जीवों की संतों की सेवा में रक्षा में अपना बल लगा रहा है तो यह भी बल का माहात्म्य है। बल है इसका किस ही प्रकार उपयोग किया जाय। बल का बलत्व तो बराबर है। ऐसे ही यह जीव प्रभु है, अब यह किसी ओर लग जाय। कर्म संयोग से लग जाय तो अपार संसार में परिभ्रमण करे ऐसी प्रभुता पाता है और कर्मरहित हो जाय तो अनन्त आनन्द भोगे, सर्वज्ञता बने, ऐसी प्रभुता पाता है।

कर्तृत्व व भोक्तृत्व में नयविभाग की दृष्टि—निश्चयनय से यद्यपि यह जीव कर्म का कर्ता और कर्म का भोक्ता नहीं है, फिर भी व्यवहार से यह जीव कर्म का कर्ता और कर्म का भोक्ता कहा त्राता है। इन दोनों नयों का कैसा सम्बन्ध है और कैसा मर्म निरखा जा रहा है कि जहाँ इसको भी नहीं मना किया जा रहा है कि परसम्बंध को पाकर निमित्त पाकर यह जीव रागादिक रूप और सुख दुःख आदिक रूप परिणम रहा है, और यह भी नहीं मना किया जा सकता है कि यह जीव स्वयं अपनी योग्यता के अनुसार अपनी ही शक्ति से रागादिक रूप और सुख दुःख आदिक रूप परिणम रहा है। रागादिक रूप परिणमने का नाम तो कर्तृत्व है और सुख दुःख आदिक रूप परिणमने का नाम भोक्तृत्व है। भोगा, इसका अर्थ यही है कि वह सुखरूप परिणमा अथवा दुःखरूप परिणमा। इस जीव ने कुछ किया, इसका अर्थ यही तो निकला कि इसने रागद्वेष मोहरूप परिणमन किया। सो इस प्रकार यह जीव कर्म से संयुक्त होकर अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार, पुण्य पाप द्रव्यकर्म के अनुसार, शुभ अशुभ भावों के अनुसार यह संसार में परिभ्रमण करता है।

व्यक्ति प्रभुता—यद्यपि निश्चय से यह संसार में व्याप्त नहीं है। संसारभाव में नहीं लगा हुआ है, यह तो अनंत ज्ञानादिक गुणों का आधारभूत है, पर वर्तमान दशा को देखा जाय तो इस स्वभाव से विपरीत जो चतुर्गतियों का संसरण है उस परिभ्रमण में यह जीव लगा हुआ है। इसमें जो भव्य पुरुष हैं उनका तो संसार का अन्त आ सकेगा, पर अभव्य जनों के संसार का अंत कभी न आयगा। कैसी प्रभुता और कैसी स्वयं अपने आप रचना हो जाती है कि कितने प्रकार के जीव, कैसे-कैसे शरीर, कैसी-कैसी उनकी चेष्टाएँ, कैसे-कैसे विस्तार, यह सब इस जीव के कारण ही तो रहा है। तो जीव की कैसी प्रभुता है? इन, दोनों में प्रभुता की शक्ति प्रकट है, पर जब कर्मबद्ध है तो इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अधिकार प्रकट हुआ है। प्रभुता नहीं तो और क्या है? व्यक्ति प्रभुता है।

प्रभु और संसारी की प्रभुता—भगवान अज्ञान और विकाररूप नहीं परिणम सकते, वह तो अपने शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दरूप परिणम रहे हैं। यह उनकी प्रभुता है। ये मिथ्यादृष्टि जीव शुद्ध ज्ञान और आनन्दरूप नहीं परिणमा सकते, किन्तु अज्ञान, विकार भ्रमणरूप परिणम सकते हैं। भगवान तो सीधा-सादा सच्चा काम कर रहे हैं, पर यही के संसारी अज्ञानी जन टेढ़ा, कुटिल, कठिन, असम्भव काम किये जा रहे हैं। क्या संसारी जीवों में प्रभुता नहीं है? भगवान ही में प्रभुता है क्या? भगवान की प्रभुता भगवान के ढंग की है, जैसा है तैसा ज्ञान में आ गया, निराकुल हैं, निर्विकल्प हैं, उनका सीधा काम है, और संसारी सुभटों का काम देखिये, जो बात नहीं है उसे होनी करना चाहते, कितनी विडम्बना, कितने प्रकार के शरीर, प्रभुता है ना इस जीव में, तो वह जायगी कहाँ? संसारी जीवों की प्रभुता इस रूप में प्रकट हुई है।

भावसंसरण व क्षेत्रसंसरण—यह जीव अनादिकाल से मोह के आवरण से ढ का हुआ है, इस कारण इसका विपरीत अभिप्राय प्रकट हुआ है। और उससे सम्यग्ज्ञान की ज्योति अस्त-मित हो गयी है। सम्यग्ज्ञान अभी प्रकट नहीं है सो अज्ञानी होता हुआ यह सान्त अथवा अनन्त इस संसार में परिभ्रमण करता है। संसार नाम है निश्चय से विभावपरिणाम का। यह जीव कहाँ डोल रहा है, इस प्रश्न का उत्तर निश्चय से यह आयगा कि यह जीव अपने विभाव में, उपयोग में, कल्पना में, रागद्वेषादिक भावों में डोल रहा है, यहाँ ही चक्कर लगाया करता है और फिर व्यवहार से स्पष्ट समझ में आये, ऐसा परिभ्रमण बतायें तो यह ३४३ घनराजू प्रमाण लोक में ऐसा परिभ्रमण कर रहा है कि यहाँ का कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ यह अनन्तबार उत्पन्न न हो चुका हो। ऐसा परिभ्रमण किया, और अज्ञान के वश ही रहा हो ऐसा ही परिभ्रमण करेगा। अच्छा यह तो क्षेत्र की दृष्टि से समझ में आया, अब और तरह से देखिये।

द्रव्यसंसरण—इस जीव ने इतना परिभ्रमण किया कि उस परिभ्रमण के काल में ये :जगत के सारे उपभोग्य परमाणु जो शरीररूप बन जाते हैं उन परमाणुओं को अनेक बार ग्रहण किया। न ग्रहण किया हो उनका ग्रहण किया, ग्रहण किया हो उनका भी बारबार ग्रहण किया और ऐसा भी ग्रहण किया कि उसमें कुछ ग्रहण किया हुआ भी आया, कुछ न ग्रहण किया हुआ भी आया। यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता कि यह जीव जब अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है तो न ग्रहण किया हुआ तो कुछ रहता ही नहीं, फिर अगृहीत का ग्रहण कैसा? जो कुछ ग्रहण कर रहा है वह गृहीत ही गृहीत कर रहा है। समाधान में यह समझना कि हम जब से उसका एक परिवर्तन लगा रहे हैं अपनी कल्पना में उस समय से हिसाब लगाने पर अगृहीत बन जाता है। तो यों अनन्त बार गृहीत तो एक बार अगृहीत ग्रहण किया। फिर अनन्त बार अगृहीत, फिर एक बार गृहीत, यों अनन्त बार गृहीत हों, फिर एक बार मिश्र। उसी प्रक्रिया से एक बार मिश्र होने के बाद अनन्त बार अगृहीत हों तो एक बार गृहीत, फिर अनन्त बार गृहीत होने पर मिश्र, यों अनन्त मिश्र हो लेंगे। फिर और बदल लीजिए। अनन्त बार गृहीत हुआ तो एक बार अगृहीत, यों अनन्त बार अगृहीत हुआ तो एक बार मिश्र। ऐसे ढंग से सर्व परमाणुओं को नाना विधि से ग्रहण किया। इसमें ज्ञातव्य यही बातें रख लो उसमें जो परिभ्रमण बनता है, ऐसे-ऐसे अनन्त परिवर्तन इस जीव ने किये।

कालसंसरण—ये सब परिभ्रमण अज्ञान के कारण हैं। वह अज्ञान क्या? जो प्रायः अब भी करते जा रहे हैं, यह तो मेरा ही है। है किसका? ये कुटुम्बी जन तो मेरे ही हैं, और हैं किसके? उस अज्ञान से अब भी अनेक जीव बाज नहीं आते हैं। श्रद्धा में बसाये हैं और यह मिथ्या श्रद्धान तब तक कैसे मिटे जब तक अपने आपकी विचित्रता का इसे श्रद्धान न हो जाय। अब काल के ढंग से भी सोच लीजिए। किसी उत्सर्पिणी काल से कल्पना में शुरू करो। अब से अनन्त उत्सर्पिणी पहिले की किसी उत्सर्पिणी से ख्याल करो। इस जीव ने उत्सर्पिणी काल लगते ही पहिले समय में जन्म लिया। इसके बाद फिर जो उत्सर्पिणी लगी, उससे

किसी भी समय पैदा हो वह गिनती में नहीं है। किसी उत्सर्पिणी में फिर दूसरे समय में पैदा हुआ, फिर किसी उत्सर्पिणी में तीसरे समय में पैदा हुआ वह क्रम लेना है। बीच में तो अनन्त बार अन्य-अन्य समयों में पैदा हुआ उसे नहीं लेना है। ऐसे क्रम से उत्सर्पिणी के जितने समय हैं और अवसर्पिणी के जितने समय हैं क्रम से उत्पन्न हो ले। अब सोच लीजिए कितना परिमण इसका हो गया। यह तो अभी एक परिवर्तन है। ऐसे न अनन्त परिवर्तन किये हैं। इस जीव के भ्रमण की बात कही जा रही है, क्या यह सम्भव नहीं है? सम्भव है। जब अनन्त भ्रमण हो रहे हैं तो इतनी बात में क्या सन्देह?

भवसंसरण—अब एक और नई दृष्टि लगावो—भवभ्रमण की। जैसे नार की जीवों की क्रम से कम आयु १० हजार वर्ष की होती है और अधिक से अधिक ३३ सागर की होती है। ३३ सागर में अनगिनते करोड़ों वर्ष समाये हुए हैं। कोई जीव १० हजार वर्ष की आयु लेकर नारकी बना। नारकी जीव मरकर तुरन्त ही नारकी नहीं बना करता है, ऐसा नियम है, वह तिर्यच या मनुष्य बने, फिर नार की हो, अब नार की मरकर और कुछ स्थिति लेकर बने। यों १२-१२ हजार वर्ष आदि अन्य-अन्य प्रकार वर्ष की आयु लेकर नारकी हो, वह गिनती में नहीं है। १० हजार वर्ष में जितने समय होते हैं उतनी बार १० हजार वर्ष की आयु लेकर पैदा होने लगे और फिर १० हजार वर्ष एक समय अधिक की आयु लेकर पैदा हो ले, भिन्न आयु को इस क्रम में नहीं गिना है, यों एक-एक समय बढ़-बढ़कर आयु लेकर ३३ सागर की आयु पूरी कर ली, तब समझ लो कितना भ्रमण हुआ। यह तो एक भव परिवर्तन है। ऐसे ही देवगति में लगावो, वहाँ भी कम से कम १० हजार वर्ष की आयु है। और भ्रमण वाले जीव में अधिक ३१ सागर की आयु है। इससे अधिक आयु वाला देव नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हें परिवर्तन के क्रम में नहीं ले सकते क्योंकि उनको ग्रहण करने से तो खेल ही भव भ्रमण का सारा मिट जायगा। ऐसे ही वहाँ भी एक-एक समय अधिक आयु ले लेकर देव भव बदले, वहाँ भी यह नियम है कि देव मरकर तुरन्त देव नहीं बनता। देवगति का जीव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यश्च होगा, फिर वह देव हो सकता है। यों दूसरा भवपरिवर्तन हुआ। मनुष्य की कम से कम आयु अंतर्मुहूर्त और अधिक से अधिक आयु ३ पल्य की है। पल्य में असंख्यात वर्ष होते हैं। यह आयु भोगभूमिज मनुष्य की है। यों ही तिर्यच की आयु है। वहाँ भव पूरा करे। यों एक-एक भवपरिवर्तन यह पूरा हुआ। ऐसे-ऐसे इस जीव ने अनन्त भवपरिवर्तन किया।

जीवस्वभाव व वर्तमान परिणाम—यह जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्ति की योग्यता रखने वाला है, किन्तु विपरीत बुद्धि करके मिथ्यात्व कषाय में ग्रस्त होकर परिभ्रमण कर रहा है। इसे रंच भी विषाद अथवा लाज नहीं आती। इसको रागद्वेष मोह करने की ऐसी कुटेव पड़ गयी है। सम्यग्ज्ञान जगे तो सांसारिक भ्रमण कर्तृत्व भोक्तृत्व इन व्यवहारों की लाज आयगी। अज्ञान में ही अज्ञान के कर्मों में बुद्धिमानी मानी जाती है।

अपराध और निर्लज्जता का उदाहरण—एक घटना है कि तीन पुरुषों ने मिल करके एक ही घर में बराबर में चोरी की। न्यायालय में वह घटना पहुंची। न्यायाधीश ने सोच समझकर उनका निर्णय दिया। एक को कह दिया कि तुझे धिक्कारा है जो इस काम को किया। इतना ही दंड दिया। एक को कुछ दिनों के लिए जेल में रख दिया। और तीसरे को यह दंड दिया कि इसका मुँह काला करके गधे पर चढ़ाकर गांव में घुमाया जाय। लोगों को शंका हुई कि तीनों ने एक ही अपराध किया और ऐसे भिन्न-भिन्न दण्ड क्यों दिये गए? सो सुन लीजिए जिसे धिक्कार करके छोड़ दिया था वह घर में जाकर किसी टंकी में या कुटिया में घुसकर अपने प्राण घुटाकर मर गया। इतना उसके मन में पछतावा आ गया। अब गधे वाले की बात सुनो—जब मुँह काला करके गधे पर बैठाकर घुमाया जा रहा था और जब वह अपने द्वार पर पहुंचा, देखा कि स्त्री खड़ी है तो चिल्लाकर कहता है कि पानी गरम कर के रखना, थोड़ा और घूमने को बाकी रह गया है। उसके लिए यह दण्ड भी कम रहा।

अपराध, विपदा और निर्लज्जता—अहो, इतना महान् कष्ट भोगा जा रहा है, शरीर का बन्धन परिवार का बन्धन, अनेक इष्ट

वियोग, अनिष्ट संयोग, कल्पनावां के क्लेश, शरीर में व्याधियाँ उत्पन्न हो जाये उनकी वेदनाएं, और रोज़-रोज़ की भूख प्यास की अलग वेदनाएं, इतने कठिन दुःख भोगे जा रहे हैं और उन दुःखों के भोगे जानें का अपराध केवल इतना है कि हम निज को निज पर को पर जानने का निर्णय और वृत्ति नहीं रखते । कहने सुनने में तो बड़ा मामूली सा अपराध है और उसके फल में इतना जाल ! जाल भी भोगते जा रहे और इन क्लैशों का जो कारण है उस कारण को नहीं छोड़ना चाहते । यह स्थिति है संसार परिप्रमण करने वाले जीवों की । जैसे लाल मिर्च खानें के शौकीन लोग लाल मिर्च खाते भी जाते हैं, सी-सी भी करते जाते हैं, आंसू बहाते जाते हैं, फिर भी और लाल मिर्च लावो, यों माँगते हैं । इसी प्रकार थे संसार के अज्ञ जीव ऐसे कातिर हो गए हैं, ऐसे अधीन बन गए हैं, अपने में ऐसी विवशता मान रखते हैं कि एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण किया और उस शरीर के प्रसंग में जो समागम मिला उस समागम में राग विरोध कल्पनाएँ कीं । मिटा, फिर कहीं उत्पन्न हुआ वहाँ रागद्वेष मोह, ऐसी विडम्बनाओं में यह जीव चक्र लगाता है और अपना जो शुद्ध प्रताप है उस प्रताप से बच्चित हो जाता है ।

निराकुलता के उद्यम का कर्तव्य—हम आप सब जीव हैं । हम अपि को ऐसी निराकुलता का यत्न करना चाहिए कि जो स्वाधीन हो और कभी मिटे नहीं । ऐसी निराकुलता है मोक्ष में । मोक्ष का मार्ग अपनाना चाहिए । मोक्ष का मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता । विशुद्ध सहज अपने सत्त्व के कारण जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है तन्मात्र मैं हूँ ऐसा भीतर में विनिश्चय होना चाहिए, और अपने उपयोग को ऐसे ही चिन्तन में लगाना चाहिए और रतिरमण भी ऐसी ही भावना में बनाना, यह है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की स्थिति । ऐसा होने का जिस ज्ञानी ने प्रोग्राम बनाया है उसको ऐसा होने में बड़ी बाधायें आ रही हैं क्योंकि अनादि से विषय कषाय की वासना में यह रत रहा है । जब उन विषयकषायों की वासना दूर करने के लिये तप व्रत संयम, अध्ययन, समस्त व्यवहार करता है । यह व्यवहार भी इस दृष्टि में धर्म है और ऐसा व्यवहार करके भी ज्ञानी पुरुष अपने मुख्य लक्ष्य को भूलता नहीं है । मेरा सुख मोक्ष में है, और मोक्ष कैवल्य में है ऐसा निर्णय करके अपने आए में अपने कैवल्यस्वरूप को निरखा करता है । स्वयं सहज कैसा ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, उस ज्ञानप्रकाशरूप अपने को अनुभवा करता है । बस यही शुद्धवृत्ति इस जीव के संसारप्रमण के विनाश का कारण होती है ।

उवसंतपीणमोहो मर्गं जिणभासिदेण समुवगदो ।

णाणाणुमग्गचारी णिवाणपुरं वजदि धीरो ॥७०॥

कर्मवियुक्तता में प्रभुता का वर्णन—जब यह जीव कर्म से वियुक्त होता है तब इसे कैसी प्रभुता प्रकट होती है? उस सहज प्रभुता का इसमें वर्णन है । इस प्रभुता की चर्चा में ही जागृति और अपूर्व आनन्द मिलता है । जो सहज प्रभुता है उसके आनन्द का कोई लोक में उपादान नहीं है । प्रभुता व्यक्त होने का प्रारम्भ होता है सम्यक्त्व से । दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ७ प्रकृतियों का उपशम हो तो उपशमसम्यक्त्व होता है । क्षयोपशम हो तो क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है । क्षय हो तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है । आत्मा के निर्मल परिणामों में ऐसी प्रभुता है कि जैसे कहावत में कहते हैं कि सिंह के समक्ष स्याल हो तो रखाया हुआ मांस भी उगल देता है । यों ही निर्मल परिणाम हों तो भवभव के बाधे हुए कर्मों का विकट उथल-पुथल होता है और उथल-पुथल होकर वे नष्ट हो जाया करते हैं । यह सब करणानुयोग के ग्रन्थों से जाना जा सकता है ।

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धलब्धि और देशनालब्धि —इस जीव को सबसे पहिले क्षयोपशमलब्धि प्रकट हुई, कुछ विशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर कर्मों में जो अनुभाग पड़े हुए थे, तीव्र थी फलदान शक्ति, उससे शिथिलता हुई, वह क्षयोपशमलब्धि है, और क्षयोपशम के कारण विशुद्ध परिणाम बढ़ वह विशुद्धलब्धि है । फिर ज्ञानी संतो के उपदेश मिले वह देशनालब्धि है । अब सोच लो—इन

तीन लब्धियों में से दो तो हम आप सबको मिल चुकी हैं। हमआपका क्षयोपशम क्या बढ़ा नहीं है, विशुद्धि की क्या हम आप लोगों में योग्यता नहीं है? देशनालब्धि की बात सबके अपने निजी विचारों की बात है। किसी को मिल गई, किसी को नहीं मिली।

प्रायोग्यलब्धि की विशेषता—इसके पश्चात् प्रायोग्यलब्धि होती है। अब जरा ध्यान से सुनिये—प्रायोग्यलब्धि में कितना अद्भुत चमत्कार हो जाता है? परिणामों की निर्मलता का नाम लब्धि है। इस जीव के देशनालब्धि तक बहुत कोड़ाकोड़ी सागरों के कर्मों की स्थिति है। जब प्रायोग्यलब्धि प्रारम्भ होती है तब उसकी अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की ही स्थिति रह जाती है, और फिर उसमें भी घटती जाती है, जब सात आठ सौ सागर और घट जाती है तो इस मिथ्यादृष्टि जीव में इतनी प्रभुता प्रकट होती है इसके कि नरकायु का बंध नहीं होता। फिर सात आठ सौ सागर और घट जाये तब तिर्यच आयु का बंध नहीं होता है, इसी प्रकार पृथक्त्वसागर और घटने पर मनुष्य तथा दैव आयु के भी बंध रुक जाते हैं। फिर पृथक्त्वसागर कम होने पर नरकगति व गत्यानुपूर्वी बंधापसरित हो जाते हैं। इसी तरह ३४ तरह के बंधापसरणों में पृथक्त्वसागर बंध कम होता है। इतना काम भव्य भी कर लेते हैं और अभव्य भी कर लेते हैं। ऐसे काम अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव कर लें, यहाँ तक तो बल चलता है। इसके बाद अभव्य के करणलब्धि नहीं चलती है, अधःकरण और अपूर्वकरण भी नहीं चलता।

करणत्रय का सामर्थ्य—भैया! अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण—ये तीन परिणाम कई बार होते हैं। गुणस्थानों में जो अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण का नाम लिया है वह चारित्र मोह के क्षय करने के लिए लिया है। जब जीव के उपशम सम्यक्त्व होता है तब अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण हो जाते हैं और ये मिथ्यात्व में हो जाते हैं। जब यह जीव क्षयोपशम उत्पन्न करता है तब अधःकरण और अपूर्वकरण दो परिणाम, होते हैं। वहाँ अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। अब समझ लिया जायगा कि अनिवृत्तिकरण परिणाम होने पर एकसा परिणाम हुआ करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में एकसा परिणाम क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होता। क्योंकि वहाँ चल मलिन अगाढ़ दोष है। यहाँ अनिवृत्तिकरण नहीं होता। अनन्तानुबंधी का विसंयोजन हो तो तीन करण हैं दर्शनमोह का उपशम हो तो तीन करण हैं, दर्शनमोह का क्षय हो तो तीन करण हैं, संयमासंयम हो तो २ करण हैं अधःकरण अपूर्वकरण। यहाँ भी नजर कर लो। अनिवृत्तिकरण परिणाम न होने से संयमासंयम में भी एकसा परिणाम श्रावक का नहीं रहता। यह, आत्मा महाब्रत धारण करे तो वहाँ २ करण होते हैं—अधःकरण व अपूर्वकरण। वहाँ पर भी विषमता होती जब चारित्रमोह का क्षय करता है तब तीन करण होते हैं। इन तीन करणों में अधःकरण तो सातिशय अप्रमत्तविरत में हो जाता है। अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान में होता है और अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थान में होता है। यहाँ आठवें नव में गुणस्थान का नाम परिणाम के नाम पर ही रख दिया गया है। अधःकरण में अनन्तगुणी विशुद्धि चलती रहती है। अपूर्वकरण में अनन्तगुणी विशुद्धि, स्थितिघात, हीन स्थितिबंध, अनुभागघात, प्रदेशनिर्जरा व अनेक अशुभ प्रकृतियों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होने लगता है।

अनिवृत्तिकरण की प्रगति—जब अनिवृत्तिकरण होता है तो विकट खलबली कर्मों में मच जाती है। जैसे—मान लो इस समय पौने आठ बजे हैं और ५ मिनट बाद इसका उपशमसम्यक्त्व होगा और मान, लो ३ मिनट तक उपशम सम्यक्त्व रहेगा ५० मिनट से ५३ मिनट तक तो ५० मिनट से ५३ मिनट तक की स्थिति वाले जितने ये ७ कर्म हैं सम्यक्त्व घातक इनमें जब जिसकी विसंयोजना है तो वह स्थिति हटकर या तो ५० मिनट से पहिले वाली बन जायगी या ५३ मिनट से अगली वाली बन जायगी। वहाँ यह उपशम सम्यग्दृष्टि इतना निर्मल होता है जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वघाती प्रकृतियों की सत्ता नहीं है ना, ऐसे उन तीन मिनटों की सत्ता इसके भी नहीं है, तभी तो अनिवृत्त अर्थात् सदृश परिणाम रहता है। यों तो पर की बात कही गयी है।

आत्मविकास का वैभव—अब निज का चमत्कार देखो—सम्यक्त्व का परिणाम मिले, उससे भी बढ़कर और कुछ वैभव है क्या? ये तीन लोक के हीरा जवाहरत रत्न सारे के सारे सामने आ जायें तो भी उनसे इस आत्मा का क्या हित हो जायगा? इनसे आत्मा की कोई तरक्की है क्या, शान्ति है क्या? कुछ भी नहीं है। ये सारे तीन लोक के पाषाण भी इकट्ठे हो जायें तो उससे वास्तविक आनन्द नहीं आ सकता। किन्तु एक अपना सम्यक्त्व परिणाम जगे, अपनी दृष्टि अपने आपके सहजस्वभाव को पकड़ ले तो उससे बढ़कर अमीरी जगत में क्या है?

ज्ञानवैभव के महत्व का एक उक्ति में प्रदर्शन—एक साहित्यकार ने लिखा है कि कोई राजा घमंड में आकर एक साधु के सामने छाती फुलाकर जा रहा था तो साधु ने तो नहीं कहा पर साधु की ओर से कवि कल्पना कर के कहता है एक श्लोक में “अर्थानामीश से त्वं....। हे राजन् ! तुम अर्थ अर्थात् धन का गर्व कर रहे हो, तुम्हारे चित्त में यह अभिमान है कि मेरे ऐसा वैभव है अर्थ है, तुम अपने को धनी मानकर महान समझ रहे हो तो तुम्हें कुछ पता है? हम भी अर्थ के भण्डार, हैं। शब्द के अर्थ निकलते हैं ना। तुम्हारे अर्थ तो ये पत्थर हैं और हमारा अर्थ ज्ञानात्मक है। एक कवि की कल्पना है। तुम यदि बड़े-बड़े रेशमी अच्छे वस्तों से मौज माना करते हो, संतुष्ट हुआ करते हो तो यहाँ हम दिशावों के अम्बर से अथवा बलकलों से अपने को तृप्त बनाये रहते हैं, और-और भी बातें कहने के पश्चात् फिर कहा कि यह निर्णय कर लो कि दरिद्र कौन है और धनी कौन है? जो सन्तुष्ट हो वह धनी है, जो असन्तुष्ट हो वह दरिद्र है।

आगमाभ्यास की प्रेरणा—भैया! अब जरा आगम के शब्दों के अर्थ का संचय करिये और उन अर्थों से सन्तुष्ट रहा करिये, इसमें अनुपम सन्तोष मिलेगा। सारा का सारा तन, मन, धन, बचत सब खोकर भी यदि एक निज सहज स्वभाव की दृष्टि मिलती है तो समझो कि हमने सब कुछ पा लिया। और एक अपने सहज स्वभाव की दृष्टि खोकर बाह्य में चाहे ६ खण्ड का वैभव भी पा लिया तो भी आपने खोया सब कुछ है, पाया कुछ नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष जिसने दर्शन मोह का उपशम किया है, क्षयोपशम किया है, विपरीत आशयों से विमुक्त हो गया है। इसी कारण इसके महत्ती अन्तःप्रसन्नता है। यह अब निर्मम हो गया है।

ज्ञानी की अन्तः निर्भयता—परपदार्थों में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार का आशय रखना सो विपरीत आशय है। मेरा तो मात्र मैं हूँ,। जो ज्ञानादि गुणमय है, अमूर्त है, निर्मम है, केवल एक चैतन्यप्रकाशमात्र है, जिसका किसी से व्यवहार नहीं चलता, ऐसा यह मैं चैतन्यप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व हूँ। मैं (नाम लेकर) यह नहीं हूँ। (समागमों का नाम लेकर) ये मेरे नहीं हैं। अरे देह तक भी मेरा नहीं है फिर अन्य कुछ वैभव तो मेरा होगा ही क्या? यह जीव तो केवल कल्पनाजालों को गूंथ कर अपना अमूल्य समय खो रहा है। लाभ कुछ भी नहीं उठा पा रहा है। ज्ञानी पुरुष जिनेन्द्र भगवान के आगम को पाकर, इस जैनशासन को पाकर इसका सदुपयोग करता है, मोह से निवृत्त हो जाता है, इसके सम्बन्धज्ञान की ज्योति प्रकट हो जाती है। अब इसके भय नहीं रहा। इस ज्ञानी के कैसी भी स्थिति गुजरो पर यह अन्तः भय नहीं रखता। उसके निर्णय में यह बात पड़ी हुई है कि ये सारे समागम रंग ढंग सब बीच की बातें हैं। यह मैं तो गुजर कर आगे जाता हूँ। मार्ग दिख गया, अतएव घबड़ाहट नहीं है।

मार्गनिर्णय में भी आकुलता की निवृत्ति—जैसे कोई मुसाफिर अंधेरी रात्रि को किसी जंगल में फंस गया, रास्ता भूल गया तो अब वह कहीं जाय, कहीं मार्ग ही नहीं सूझ रहा। एक साहस बनाकर वह वहीं ठहर गया, जो कुछ होगा देखा जायगा, पर जहाँ का तहाँ ही वह ठहर गया। इतने में एक बिजली चमकी और उस बिजली के क्षणिक प्रकाश में उसे सामने सड़क दिख गई। यह वह सड़क है जिससे हमें जाना है और उस सड़क से यह पगड़ंडी मिल रही है। एक नजर में सब कुछ समझ में आ गया। वह बिजली क्षण भर में ही समाप्त हो गयी फिर वही घोर अंघकार छाया हुआ है, फिर भी उस मुसाफिर को रंच आकुलता नहीं है। उसकी समझ में यह बात पड़ी हुई है कि वह है रास्ता, वहाँ जाना है, थोड़ी सी रात और गुजरनी शेष है। सबेरा होते ही इसी

रास्ते से चले जायेंगे। ऐसे ही इस ज्ञानी पुरुष ने सब आना हाल जान लिया कि मैं अमूर्त चैतन्यप्रकाश हूँ, मेरा मात्र मेरे भावों का परिणमन है। मेरा सब कुछ मैं हूँ। मेरा भविष्य मुझमें है। इसही उपाय से हम अपने उस सहज ज्ञान और आनन्द के पद को प्राप्त कर लेंगे। सदा निराकुल रह जायेंगे। निराकुल तो मेरा स्वरूप है, सब कुछ निर्णय में समाया है तो वर्तमान में चाहे कितने ही झंझट लगे हों, लेकिन वृष्टि में फिर भी वह अन्तरङ्ग में तृप्त है। चाहे बहिरङ्ग में कुछ उद्घेग भी हो रहा हो।

सम्यगदृष्टि नारकी का अन्तः प्रसाद—सम्यगदृष्टि पुरुष नारकी भी हो और वह बाल में बड़े उपद्रव भोग रहा है। शरीर का दुःख, नारकियों से मरने पिटने का दुःख, जहाँ तिल-तिल बराबर देह के टुकड़े भी कर दिये जाते हैं फिर भी पारे की तरह मिलकर फिर खड़े हो जाते हैं, जिनकी बीच में मृत्यु भी नहीं होती है और ऐसे बाहरी अनेक दुःख भोगकर भी सम्यगदृष्टि नारकी अन्तरङ्ग में कैसा निराकुल रहता है? इस मर्म को ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है। सम्यगदृष्टि नारकी भी दूसरे नारकियों को मारता पीटता, वह भी दूसरे नारकियों द्वारा मारा पीटा जाता, लेकिन सम्यगदृष्टि नारकी को अंतः संक्लेश नहीं है और अन्य नारकी जो कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले हैं वे अंतः संक्लिष्ट रहा करते हैं।

सम्यगदृष्टि देवों की अन्तः निर्मलता—देवों की भी बात देखो-देव लोग बड़े-बड़े भोगसाधनों के बीच रहते हैं। छोटे से छोटे देव के कम से कम ३२ देवांगनाएँ होती हैं और बड़े देवों के तो हजारों देवांगनाएँ होती हैं। दूसरे उन देवों के, यहाँ के मनुष्यों जैसा कोई विवाद नहीं है। वे खूब मनमाने भोग भोगते हैं। उन देवों में भी जो सम्यगदृष्टि देव हैं। वे इन भोगों के बीच रहकर भी अत्यन्त उदास रहते हैं। उनका इशुकाव तो अपनी ओर रहा करता है। इस मर्म को ज्ञानी जन जानते हैं। भला बतलावों जो इस पंचमकाल में कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि ऋषि संत हो गए हैं। वे इस समय अब कहा पर होंगे, क्या कर रहे होंगे? जिसने इन पुरुषों का चारित्र सुना है, पढ़ा है, उनका चित्त यह कह देता होगा कि ऐसे ऋषिराज के समय में यदि मैं होता तो उनके चरणों की भूल अपने शिर पर लगाकर अपने जीवन को सफल समझता। कभी अवसर पाकर किन्हीं-किन्हीं संतों का चरित्र सुनायेंगे तब यह बात घटित हो जायगी हृदय में कि यह बिल्कुल ही युक्त बात है कि उन गुरु का के समय में यदि मैं होता तो सब कुछ भूलकर केवल उनकी सेवा कर के अपने जन्म को कृतार्थ समझता। वे कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि क्या अब हैं? अरे वे तो गुजर गए और मरण करके कहाँ पैदा हुए होंगे? अपनी रुचि और कल्पना के अनुसार तो बताओ? देवगति में वे इस समय होंगे। क्या कर रहे होंगे? ठाठ की सभा लगी होगी, देव देवियाँ गान-तान कर रहे होंगे। बड़ी धूमधाम से संगीत हो रहा होगा। सभी देव शिर हिलान्हिलाकर आनन्द ले रहे होंगे और ये कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि जीव, जो अब बड़े देव हैं वे देव भी आनंद ले रहे होगे, मगर भीतर में क्या गुजर रही होगी? ज्ञान का प्रकाश होगा, सम्यक्त्व की वृष्टि होगी और उससे हटना चाहने की बात मन में सोच रहे होंगे। जबकि अन्य देवों को उसमें लगने में मौज आ रहा होगा। अविरत सम्यगदृष्टि देवगति के जीव इतने भोग के साधनों में रहकर उससे उदास रहा करते हैं।

अन्तस्तप का प्रसाद—ज्ञान की महिमा अनुपम है। हम आपका गुरु कहो, देव कहो, शास्त्र कहो; सर्वस्व, शरण, सार एक विशुद्धज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञान ज्योति को पाकर यह जीव कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त कर देता है। वह अपने व्यवहार में भी अकर्ता और अभोक्ता का अनुभव करता है। उनमें भली प्रकार से प्रभुता की शक्ति उत्पन्न हुई है, वह अब ज्ञान के मार्ग से ही अपनी चर्या बना रहे हैं। उनकी इस अंतः तपस्या के प्रसाद से शुक्लध्यान के प्रकट हुआ है और वे उस शुक्लध्यान के प्रसाद से मोक्ष नगर में पहुंच जाते हैं। जहाँ कि विशुद्ध रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञानानंदस्वरूप आत्मतत्त्व का ही आलम्बन हो रहा है, ऐसे अपवर्ग नगर को प्राप्त होते हैं। अपवर्ग का अर्थ है जहाँ धर्म अर्थ काम ये तीन वर्ग नहीं होते हैं, अर्थात् सब झंझटों से, विकल्पों से मुक्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त आनन्दमय अवस्था को वे प्राप्त होते हैं। देखो ना—जब यह जीव कर्मसंयुक्त था तो

अपनी योग्यता का कैसा विपरीत विस्तार बनाया करता था और जब कर्मों से विमुक्त हुआ तो इसने अपने गुणों का अमित विस्तार अर्थात् अमित विकास विलास प्रकट किया है। यह प्रभु सर्वथा शुद्ध है और शान्ति के इच्छुक जीवों के लिए प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ तक प्रभुता की व्याख्या में कर्मसंयुक्त के रूप से पहिली गाथा में और कर्मवियुक्तपने के रूप से इस गाथा में इस जीव की महिमा बतायी गई है।

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पोत्तिलक्खणो होदि ।

चदुसंकमणो भणिदो पंचगगुणप्पधाणो य ॥७१॥

जीव की एकरूपता—अब जीव के सम्बंध में जीव की ही विशेषता को प्रदर्शित करने की पद्धति से जीव के विकल्प कहे जा रहे हैं। यह जीव एक है, जैसे सब स्वर्णों में साधारणतया पाये जाने वाले स्वर्णत्व गुण की दृष्टि से सब स्वर्णराशि एक है, इस ही प्रकार सब जीवों में साधारणरूप से पाये जाने वाले केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों के समूह रूप शुद्ध जीव जाति की दृष्टि से जीव एक है। जिन दार्शनिकों ने एक ब्रह्म माना है उनका अभिप्राय, उनकी दृष्टि मूल में यह रही होगी जैसे कि स्याद्वाद ने संग्रहनय की अपेक्षा सर्व साधारण गुणों की दृष्टि से एक बताया है, फिर उस एक की घोषणा के बाद सर्व दृष्टियों से उसे एक माना जाने लगा।

दृष्टान्तपूर्वक जाति अपेक्षा जीव के एकत्व का कथन—जैसे यहाँ कोई मनुष्य एक है तो वह हर दृष्टि से एक है, करने वाला वही है, भोगने वाला भी वही है, उतने ही हम हैं। जैसे सभी मनुष्य जाति अपेक्षा एक है, इसी प्रकार यह जीव ब्रह्म भी जाति अपेक्षा एक है। जब सर्वत्र एक माना जाने लगा तो अनेक आशंकायें उठने लगीं। फिर ये जीव भिन्न-भिन्न अपना-अपना परिणमन कैसे कर रहे हैं? यह ऐसी रचना विभिन्न कैसे हो गयी है? सबके अनुभव अपने-अपने जुदे क्यों हो रहे हैं? जो एक होता है अनुभव भी उस समय एक में ही होता है। तब उसके उत्तर भी अनेक प्रकार से खोजे जाने लगे। यदि संग्रहनय की दृष्टि से जीव को एक मान लिया जाय तो उसमें आपत्ति नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक जीव की एकरूपता का समर्थन—कोई गेहूं का ढेर पड़ा है तो ग्राहक लोग आकर यों पूछते हैं कि यह गेहूं किस भाव दिया है? शायद कोई बहुवचन में नहीं कहता कि इन गेहूंवों को किस भाव में दिया है? हालांकि गेहूं के दाने करोड़ों रक्खे हैं, पर उन्हें एकवचन में बोला जाता है, ऐसा क्यों है कि प्रयोजन की दृष्टि से, संग्रहनय की दृष्टि से, रूप रंग को दृष्टि से वे एक समान हैं। इस कारण उनको कहने में एकवचन का प्रयोग होता है। ऐसे ही समस्त जीवों का जो समूह है वह स्वरूपदृष्टि से एक है, और जो कुछ भी चमत्कार है, ढंग है, पद्धति है वह सब एक है। इस कारण समस्त जीवों को कह देना कोई अनुचित नहीं है, पर संग्रहनय की दृष्टि त्यागकर व्यक्तिगत मान लिया जाय तो वहाँ आपत्ति आती है। सर्वथा एक ब्रह्म मान लेने पर व्यवस्था बनाने के लिए अनन्त जीव मानने पड़ेंगे। इस स्थिति में जीव का मूल्य कुछ नहीं है। जीव इस ब्रह्म के सम्बंध से चमक रहा है। यह जीव जब ब्रह्म में लय हो जायगा तो इसको मुक्ति हो जायगी। इस तरह से कोई भाई जीव को मान पड़े हैं।

स्वभावदृष्टि से परमब्रह्म का एकत्व—ब्रह्म एक वह है चित्स्वभाव। ऐसा मानने के लिए जिन शासन के स्याद्वाद से इस पद्धति से प्रेरणा मिली है कि यह जीव स्वभावदृष्टि से एक निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव है। वह तो हुआ ब्रह्म, क्योंकि स्वभावमात्र पर दृष्टि देने से व्यक्तियों का उपयोग में नहीं रहता। जैसे पीने में आने वाला जलः। जल और जल का स्वभाव जब आपके प्रयोजन से जल पर दृष्टि देंगे तो आपको वहाँ भिन्न-भिन्नपना नजर, आयगा। यह पानी है, यह मीठा है। तुम पानी कम लाये हो, तुम पानी बहुत लाये हो। यदि जल के स्वदृष्टि जाय, तो स्वभाव नजर आयगा, व्यक्तियाँ नहीं। इसी प्रकार सब जीवों के स्वभावदृष्टि दी गई तो वहाँ एक अखंड निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यस्वभाव दृष्टि में आया वह दार्शनिकों का परमब्रह्म है, जैनसिद्धान्त में भी उसे परमब्रह्म

कहा हैं। अब इस आत्मा में, जिससे व्यवहार होता है ऐसी जो परिणतियाँ हैं उन परिणतियों का प्रतिनिधि माना गया जीव। जिसे आत्मद्रव्य और आत्मपर्याय कहा गया है, उसे ही वहाँ परमब्रह्म और जीव कहा गया है। इन सब जीवों को एक सर्व साधारण। स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो वह एक है महान आत्मा। यह आत्मा ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग से उपयुक्त है। सर्व जीवों में देख लो ज्ञातृत्वशक्ति और दृष्टत्वशक्ति सबमें शाश्वत पड़ी हुई है। जिसको एक चैतन्यस्वभाव से कहा जाता है वह सर्व साधारण है, अतः जीव एक है।

सर्वथा एक जीव की असिद्धि—जो लोग सर्वथा जीव को एक मानते हैं उनको इस विषय में ऐसी आशंका रखने पर कि फिर ये भिन्न-भिन्न क्यों नजर आते हैं? उनकी ओर से यह होता है कि जैसे एक ही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न पात्रों में, भिन्न-भिन्न थालियों में जिन में पानी भरा हुआ है नाना चन्द्र नजर आते हैं। वास्तव में चन्द्रमा एक है, लेकिन उस उपाधि में चन्द्रमा अनेक नजर आया करते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म तो एक है, जीव तो एक है, पर भिन्न-भिन्न देहों में भिन्न-भिन्न घरों में इस जीव का प्रकाश पहुंचने से वह भिन्न-भिन्न जीव नजर आता है। सुनने में तो बड़ा भला लगता है। चन्द्र एक है और पचासों थालियों में पानी भरा है तो पचासों चन्द्रमा नजर आ रहे हैं, ऐसे ही जीव एक है और ये असंख्यात देह हैं ना, इन देहों में उतने ही जीव नजर आ रहे हैं। लेकिन यह बात तभी तक सुन्दर लगती है जब तक इस पर गम्भीरता से विचार न किया जाय। पचासों थालियों में पचासों चन्द्रमा नजर नहीं आ रहे, किन्तु एक चन्द्रबिम्ब का निमित्त पाकर पचासों थालों का पानी अपने आपमें चन्द्रबिम्ब के आकाररूप से परिणत हो गया है। उन पचासों थालियों में उन पचासों का पानी नजर आ रहा है और वह पानी चन्द्र का निमित्त पाकर उसके अनुकूल आकाररूप परिणम गया है, पानी में ऐसी योग्यता है। कहीं गोबर के पचासों उपला रक्खे हों तो उनमें चन्द्रबिम्ब क्यों। नहीं दीखता? और उनमें ऐसी योग्यता ही नहीं है। पानी में वैसी योग्यता है जिससे योग्य वातावरण पाकर उस रूप परिणम जाय, तो वहाँ एक ही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न नजर नहीं आ रहा है। आकाश में रहने वाला चन्द्रमा वही एक है, यहाँ दृष्टि में नहीं आता।

जीव के एकत्व की सिद्धि में दृष्टान्त की विरुद्धता—इसे स्पष्ट समझने के लिए एक और दृष्टि डालो। जैसे किसी पुरुष के सामने १० दर्पण रखे हुए हैं सामने अगल बगल, तो उन दसों दर्पणों में उस पुरुष का मुख पहुंच रहा है, लोग ऐसा कहते हैं। क्या वास्तव में दस? दर्पणों में उस पुरुष का, मुख नजर आ रहा है? नहीं। उस पुरुष के मुख का सन्निधान पाकर वे दसों दर्पण उस मुख के आकार रूप से परिणम गए हैं। पुरुष का मुख नाना रूप से नहीं बन गया है। उन दसों दर्पणों में उस पुरुष का मुख नहीं पहुंच गया। अगर उस पुरुष का मुख उन दर्पणों में पहुंच जायगा तो वे दर्पण चेतन बन जायेंगे। उस पुरुष का मुख उन दर्पणों में नहीं गया, उसका मुख उसही पुरुष में है। उसके मुख से बाहर उसका मुख नहीं जाता, फिर भी उस मुख का सन्निधान पाकर दसों दर्पण उस मुखाकाररूप से परिणम गए हैं। ऐसे ही चन्द्रमा पानी रूप नहीं परिणमा, किन्तु पानी उन पचासों थालियों का पानी चन्द्रमा का सन्निधान पाकर चन्द्रबिम्बरूप परिणम गया है।

संग्रहनय से ही जीव के एकत्व की सिद्धि—दूसरा कोई इस प्रकार एक ब्रह्म तुम्हें कहीं दिखता है प्रत्यक्ष जो नानारूप परिणम जोय? अपने अनुभव से विचारो। अपने आपमें कोई चेतना शक्ति वाला जीव तत्व अनुभव में आता है, ऐसे-ऐसे ये सभी जीव एक-एक अलग-अलग हैं। सबका अनुभव उनका अपने आपके खुद में है, फिर भी एक स्वभावदृष्टि से संग्रहनय की दृष्टि से जब निरखते हैं तो समस्त जीवों में पूर्ण समानता पायी जाती है उनके स्वरूप में। इस कारण संग्रहनय से जीव एक है।

जीव की द्विप्रकारता—यह आत्मा दो प्रकार का है। इस विकल्प के प्रकरण में इस ढंग से वर्णन होगा कि जीव दो प्रकार हैं, तीन प्रकार हैं, चार प्रकार हैं आदिक। कुछ विकल्पों तक वर्णन चलेगा। यहाँ, बतला रहे हैं कि जीव दो प्रकार के होते हैं—एक भव्य और एक अभव्य। और इसमें अभी सिद्ध तो नहीं आये। वे तो हैं अनुभय। जीव दो प्रकार के हैं—भव्य और अभव्य, तो

मुक्त जीवों में भूतप्रज्ञापन नैगमनय की अपेक्षा भव्यत्व स्वीकार करना होगा, यों ये जीव भव्य अभव्य के प्रकार से दो तरह के हैं। अथवा संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो गकार के हैं। अथवा जीव का जीवत्व दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार दृष्टि होता है। यहाँ व्यक्तित्व की दृष्टि त्याग दी गई है और उस जीव में ही जीव के भाव की दृष्टि से यह विविधता बताई गयी है।

जीव की त्रिलक्षणात्मकता—यह जीव त्रिलक्षणात्मक है। एक साधारण दृष्टि में तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणात्मकता गयी जाने से समस्त पदार्थ इस त्रिलक्षणात्मकता से युक्त हैं, जीव भी उत्पन्न होता है, विलीन होता है और वही का वही पता है। इसमें तो सभी पदार्थों की बात आ गई। जीव की विशेषता क्या आई? तो चलो, जीव यों विलक्षण है, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना से संयुक्त है। कोई जीव कर्मचेतना से तन्मय है अर्थात् मैं अमुक काम करूँ, ज्ञानातिरिक्त किसी भी भाव के पदार्थ के सम्बंध से करने की बुद्धि होने का नाम कर्म-चेतना है और उस कर्म के फल में जो सुख दुःख होता है उस फल को मैं भोगता हूँ अथवा अन्य परपदार्थों को भोगता हूँ। ऐसी बुद्धि का होना कर्मफलचेतना है, और मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, जाननमात्र हूँ, इस प्रकार जाननस्वरूप में ही अपनी प्रतीति और अनुभव करना सो ज्ञानचेतना है। यों कोई जीव कर्मचेतनाप्रधानी है, कोई कर्मफलचेतनाप्रधानी है, कोई ज्ञानचेतनाप्रधानी है, कोई केवल ज्ञानमात्र है। यह तो भिन्न-भिन्न जीवों की बात हो गयी।

एक जीव में चेतनात्रिलक्षणात्मकता—कोई बन्धु पूछे कि एक ही जीव में तीनों बातें घटा दो तब तो उस जीव की त्रिलक्षणता समझ में आये। चलो एक जीव में घटावो। जैसे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान होता है उस गुणस्थान में रहने वाला जीव अपने को ज्ञानमात्र ही श्रद्धान करता है, तब ज्ञानचेतना हुई कि नहीं? यह प्रधान है और गौणरूप से यह जीव घर गृहस्थी में है, अनेक कामों में लग रहा है, उसमें भी उपयोग कभी-कभी चल रहा है ना तो लो कर्मचेतना हो गई, और उसके फल में कभी हर्ष भी हो, कभी विपाद भी हो लो कर्मफलचेतना हो गई।

अज्ञानी जीव की त्रिलक्षणात्मकता—कोई यहां हठ करे कि नहीं जी, तुमने एक खास अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान को पकड़ लिया, हमें तो ऐसी बात बतावो कि मिथ्यादृष्टि के भी तीनों चेतना घट जायें और सिद्ध भगवान में भी तीनों चेतना घट जायें। अच्छा लो, इसको भी सुनो। पहिले अज्ञानी जीवों की बात देखो, प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है ना, वह चाहे अपने को कुछ भी माने, पर उस मानने में जो चेतनाएँ आती हैं, जोश आता है वह ज्ञानस्वरूप है तब ही आता है ना? तो उन्होंने इस ज्ञानस्वरूप को ही तो किसी रूप में चेता, वह चेतना तो इस ज्ञानस्वरूप की है। है ना, क्या वह कभी रूप, रस, गंध, स्पर्श को भी चैत लेता है, लो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना स्पष्ट ही है। चलो कुछ तान-मकर तीनों बातें यहाँ भी घट गर्यां। अच्छा सिद्ध भगवान में बतावो। सिद्ध भगवान की त्रिलक्षणता सुनो।

सिद्ध भगवंत में चेतनात्रिलक्षणात्मकता—ज्ञानचेतना तो भगवान में स्पष्ट है। यह प्रभु अपने को ज्ञानरूप चेत रहे हैं, परिणम रहे हैं, ठीक है, ज्ञानरूप चेत रहे हैं ना, कुछ काम कर रहे हैं ना? हाँ कर रहे हैं अपने को निरन्तर ज्ञानरूप अनुभव रहे हैं। यही उनका काम है ना? इस कामरूप वे परिणम रहे हैं ना, तो यही कर्मचेतना हो गई, और इस काम का फल भी उन्हें मिल रहा है कि नहीं? केवल ज्ञातादृष्टा हैं तो ऐसे केवल ज्ञानमात्र रहने के कार्य का उन्हें फल मिले रहा है, अनन्त आनन्द। उस अनन्त आनन्द को भोग रहे हैं ना, यही सिद्ध का कर्मफल है तो उसे भी चेत रहे हैं। दो तीन बातें समझने के प्रसंग में कर्म का अर्थ ज्ञानावरण आदिक न लेना, किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी क्रिया में रहा करता है। तो सिद्ध भगवान की जो क्रिया है, कर्म है, वह कर्म है और उसके फल में जो फल मिलता है वह कर्मफल है।

विशुद्धाशयी का ज्ञानविहार—जैसे स्व ही लक्ष्य रखने वाला पुरुष घर में पचासों जगह की व्यवस्था कर लेता है और अपने

लक्ष्य से चूका नहीं इसकी उसे प्रसन्नता रहती है। ऐसे ही मोक्षमार्ग का लक्ष्य रखने वाला ज्ञानी पुरुष इन समस्त तत्वों को नाना रूपों से जो न रहा है, फिर भी यह अपने लक्ष्य में सफल बना रहने से प्रसन्न रहता है, और कोई भक्त पुरुष भगवान की भक्ति करता है, उसमें सिद्ध भगवान का प्रेम है तो कभी भगवान की बड़ी प्रशंसा करके भक्ति करता है, कभी-कभी भगवान में जब तीव्र भक्ति पहुंचती है, उनके गुणों के विलास की दृष्टि पहुंचती है तो कभी-कभी तो यों भी कह देता है कि क्या हुआ केवलज्ञान हो गया तो, वह तो तुम्हारा स्वभाव ही है, कौनसी इसमें वीरता हो गयी? अरे स्वरूप वही है, जो था सो प्रकट हो गया, लो अभी तो बड़ा पुरुषार्थ बतला रहे थे और अब यों कहने लगे। अरे उसके यों कहने में भी पुरुषार्थ की प्रशंसा भरी हुई है।

भक्तिपद्धतियां व ज्ञानविहारपद्धतियां—कभी तो यह भक्त दीनता भरे शब्दों में कहता है—नाथ! बतावो, विकारों से हटावो, मुझे इस अविकार के मार्ग से ही बढ़कर खींच लो अपनी ओर। मुझे अब इस संसार में नहीं रहना है, कभी तो ऐसा दास बनकर प्रभु की पुकार करता है और कभी झुंझलाकर कहता कि प्रभु तुम्हारी भक्ति में यदि कोई उन्नति नहीं जगती है, मेरा ठीक ठिकाना नहीं लगता है तो नाथ! इसमें क्या मेरी ही बदनामी है, तुम्हारी नहीं है? लोग कहेंगे ना कि वे कैसे प्रभु हैं जो एक निष्कपट भक्त को अपने में समा नहीं सकते। परमात्मा की भक्ति के पचासों तरीके बना डाले, पर यहाँ दास उन सब तरीकों में मूल लक्ष्य को न छोड़ने से शान्त रहता है, प्रसन्न रहता है। कभी प्रभु से झुंझलाकर बोलने के बाद भी यह पछतावा नहीं करता कि मैंने भगवान को बहुत भला बुरा कह डाला। अरे बुरा सुनाया कहाँ है, चह तो सब भक्ति के रूप में था। यों ही तत्त्वज्ञानी पुरुष तत्त्व के सम्बन्ध में नाना पद्धतियों से सोचता है, चिन्तन करता है और उसमें वह प्रसन्न रहता है।

अन्य प्रकार से जीव की त्रिलक्षणात्मकता—यह जीव चेतना के प्रकार में त्रिलक्षण वाला है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीनों रूप होने के कारण यह आत्मा तीन लक्षण वाला है अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय तीन रूपों में यह विदित होता है, अतएव श्रिलक्षणात्मक है। है जीव एक वही, पर जिसका जीवस्वरूप के परिचय पर अधिकार हो गया है वह इस जीव को नाना प्रकार से त्रिलक्षण रूप में देख रहा है। यह आत्मा त्रिलक्षण स्वरूप है। अब इसके बाद में ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० के रूप में भी वर्णन चलेगा।

ये जीव चार संक्रमण वाले हैं। संक्रमण, परिभ्रमण परिवर्तन—ये सब प्रायः अनर्थान्तर हैं। यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से निर्विकार ज्ञानानन्द स्वरूप सहज सिद्ध है और सिद्धगति के स्वभाव वाला है, फिर भी व्यवहारनय से मिथ्यात्व, अविरत, कषाय से परिणमता हुआ यह जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता है। यह चार गतियों का भ्रमण इस जीव का स्वभाव नहीं है। इसका स्वभाव तो ऊर्ध्वगति है। जैसे अग्नि की शिखा स्वभावतः ऊपर ही चलती है इस ही प्रकार इस जीव की बिशुद्धगति ऊपर की ओर ही होती है। वह कहीं तक हो, जहाँ तक निमित्त का सद्बाव है वहाँ तक ही सही, किन्तु स्वभाव है ऊर्ध्वगति का। इस जीव का चारों गतियों में भटकना उपाधि के सम्बन्ध से हो रहा है और अपने आप में अपने स्वरूप की सुध न होने से किन्हीं बाह्य में उपयोग रखने के कारण हो रहा है। यह जीव चार संक्रमण वाला है व्यवहार दृष्टि से संसार अवस्था में।

इस जीव में ५ मुख्य गुण प्रधान हैं। उन ५ गुणों में दो गुण इसके स्वभावरूप से हैं क्षायिक और पारिणामिक। क्षायिक शब्द में उपाधि के सम्बन्ध से क्षायिकता का व्यपदेश नैमित्तिकरूप से माना गया है, किन्तु क्षायिक भाव में जो निर्मलता जगती है वह निर्मलता नैमित्तिक नहीं है, वह जीव के स्वभाव से उठी हुई है। और पारिणामिक तो स्वयं स्वभावरूप है ही। इन दोनों भावों में भी द्रव्यदृष्टि से पारिणामिक भाव और पर्यायदृष्टि से क्षायिक भाव ये दोनों स्वभावों से सम्बन्ध रखने वाले भाव हैं। संसार अवस्था में यह जीव ५ भावों से लिपटा है।

क्या कोई जीव ऐसा भी होता है जिसमें एक भव में ये ५ भाव हो जाते हों—औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक? होता है, सुनिये। क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न करके जो जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ा है उसके देखो सम्यक्त्व की

दृष्टि से क्षायिक भाव है, चारित्र की दृष्टि से औपशमिक, कर्मों का उदय चल रहा; सो औदयिक, ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान चल रहा है इसलिये क्षयोपशमिक भाव है और पारिणामिक सर्वजीवों में रहता ही है। कोई जीव ऐसे होते हैं जिन में चार भाव होते हैं। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जो किसी भी श्रेणी पर नहीं चढ़ा उसके औदयिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक और पारिणामिक ये चार भाव हैं। क्षपक श्रेणी में रहने वाला जीव है उसके चार भाव हैं—द्वितीयोपशमसम्यक्त्व करके उपशम श्रेणी पर चढ़ना हो जावे उसके चार भाव हैं और तीन भावों से भरे हुए तो अनन्तानन्त जीव हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी इनके औदयिक भाव, क्षयोपशमिक भाव और पारिणामिक भाव सबके बराबर बने हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमति, कुश्रुत कुअवधि ये सब क्षयोपशमिक ज्ञान हैं। अज्ञानियों के कुज्ञान होते हैं। सिद्ध भगवान के दो भाव हैं—क्षायिक और पारिणामिक। जीव के स्वभाव को देखो तो एक भाव है पारिणामिक भाव। यों यह जीव ५ भावों से युक्त है।

छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभङ्गसभावो ।

अट्टासओ णवत्थो जीवो दसदृष्टिगो भणिदो ॥७२॥

संसार अवस्था में यह जीव ६ अपक्रमों से युक्त है। अपक्रम कहते हैं विरुद्ध क्रमरहित गति को, मरण के बाद जन्मस्थान पर पहुंचने की गति की जो विधि है उसको। जैसे हम आप यहाँ गोलमटोल चल लेते हैं। पूरब से उत्तर की ओर चल दें, जहाँ चाहे जैसी गति कर लेते हैं। मरण के बाद इस जीव की गति यथा तथा नहीं हो सकती। यदि पूर्व दिशा में मरे हुए जीव का उत्तर दिशा में जन्म होना है तो वह यों ही सीधा नहीं चल सकता। पश्चिम दिशा की ओर बढ़कर मोड़ा लेकर उत्तर में जायगा। मरण के बाद जीव की गति आकाश पंक्ति की श्रेणी के अनुसार होती है। इस महा आकाश में एक-एक सूची रूप केवल एक प्रदेश की मोटाई रखती हुई असंख्यात श्रेणियाँ हैं। पूरब से पश्चिम को, दक्षिण से उत्तर को, ऊपर से नीचे ऐसी तीन श्रेणियाँ हैं और दो छोर होने के कारण ६ अपक्रम हो जाते हैं। यह संसारी जीव ६ अपक्रमों से सहित है। यहाँ यह जीव के सम्बन्ध का व्याख्यान समाप्त। होने को है ना, उपसंहार रूप से ये तीन गाथाएँ हैं अन्त में, जिन में दूसरी गाथा में यह वर्णन चल रहा है कि जीव के ऐसे-ऐसे विकल्प हैं, उस क्रम में जीव यों ६ विकल्पों के रूप से भी निरखा जा रहा है।

यह जीव ७ भंग सहित है। देखिये कुछ भी बात हो—एक तो वह बात और एक खिलाफ बात। प्रत्येक पदार्थ अपनी खिलाफियत को लिए हुए हैं। कोई चीज़ “है” तो उसमें “नहीं है” यह भी मौजूद है, वह चीज़ है, याने वह अपने स्वरूप से है तो पर के स्वरूप से नहीं है यह भी साथ लगा है। कुछ भी आप बात कहें तो उस बात में एक प्रतिपक्ष लगा हुआ है। क्यों जी आपकी बात सच है ना। हाँ सच है। तो आपकी बातें झूठ नहीं हैं यह है कि नहीं? हाँ यह भी है। सत्य का सद्भाव असत्य के निषेध के, साथ जुड़ा हुआ है, यदि झूठ नहीं है ऐसा नहीं है तो सच ही क्या रहा? तो यों दो अंग हो गए। दोनों को एक साथ बताने का कोई वचन नहीं है। प्रमाण से भले ही देखा जाय पर वहाँ लक्षण इसके अलग हैं। इन दोनों को एक साथ न कहा जा सकने से अवक्तव्य है, यों तीन धर्म हो गए। जहाँ तीन धर्म होते हैं तो उनका संयोग किया जाय तो चार प्रकार के संयोग हो जाते हैं, दो-दो के तीन संयोग और तीनों का एक। अस्ति, अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति नास्ति और तीनों से मिलकर अस्तिनास्ति अवक्तव्य यों सम्बन्ध कर सहित यह जीव है।

यह जीव पदार्थ अष्टास्त्रव है, संसार अवस्था में व कर्मों का आस्त्रव वाला है। मुक्त अवस्था में ८ गुणों का आस्त्रव करने वाला है। निश्चय से यह जीव वीतरागस्वरूप निश्चयसम्यक्त्व आदिक ८ गुणों का आश्रयभूत है—समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व और अव्यावाधत्व। इस प्रकार ८ गुणों का आश्रयभूत है तो भी संसार अवस्था में देखो व्यवहारदृष्टि से तो इसमें ज्ञानावर्णादिक आठ कर्मों का आस्त्र बना हुआ है। इस प्रकरण में ये एक जीव के बारे में वर्णन के अन्त की आखिरी

चर्चायें हैं। जैसे कोई बड़ी गम्भीर समस्या को हल करने के लिए एक बड़ा समूह जोड़े, तो पहिले प्रयोजनभूत मुख्य-मुख्य बातों का वर्णन कर के जब अन्त में वह सभा उठने को होती है तो थोड़ा सुगम दिलचस्प वातावरण ले करके समूह उठा करता है। ऐसे ही इस जीवतत्व के सम्बन्ध में मुख्य बातों का वर्णन करके अब कुछ विकल्पों के रूप से इसका उपसंहार किया जा रहा है।

प्रश्न—भला इतना कहने की कोई खास जरूरत थी क्या कि जीव कम से एक भाव वाले, दो भाव वाले, तीन भाव वाले आदि हैं और जरूरत थी तो १० ही तक क्यों रहे, आगे क्यों नहीं बढ़े? तो इस वर्णन में दोनों प्रयोजन हैं। एक तो जीव के कुछ विकल्प बताकर यह यत्न किया है कि जीव के सम्बन्ध में कुछ और-और प्रकट ज्ञान भी हो जाय और फिर मुख्य वर्णन करके एक वर्णन समाप्ति के पहिले चूलिका रूप में वर्णन हुआ। चूलिका उसे कहते हैं कि पहिले कही हुई बात को भी कहना, पहिले न कही हुई बात को भी कहना और कुछ सम्बन्ध मिलाकर उसका आखिरी कोई रूप बना देना, उसका नाम चूलिका है। यह जीव ८ गुणों का आश्रयभूत है अथवा ८ कर्मों के आस्रव का आश्रयभूत है।

यह जीव नौ अर्थरूप है, ९ पदार्थ रूप है। जीव, अजीव, आसव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप-ये ९ प्रकार के पदार्थ बताये गए हैं। इन ९ अर्थोंरूप जीव को देखना है। यद्यपि यह नवार्थता उपाधि के सम्बन्ध बिना नहीं हुआ करती है। जिस जीव ने आस्रव किया, क्या अकेला ही जीव अपने आप में अपने विभावों का आसव कर लेता है? नहीं। कर ले तो आसव स्वभाव बन जायगा। यद्यपि इस नवार्थता में परउपाधि निमित्त होती है, फिर भी पदार्थ का यह स्वभाव अमिट है कि प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आप में अपनी ही शक्ति से अपना परिणमन किया करते हैं। सर्वत्र निहार लो। इस दृष्टि से जीव में आस्रवादि को देखिये।

जैसे आप दर्पण को देख रहे हो और उस दर्पण में अपने पीछे खड़े हुए कुछ बालक भी नजर आ रहे हैं, किन्तु उन बालकों का सान्निध्य पाकर जो दर्पण के प्रदेश थे वे बालकों के आकाररूप परिणम गए। वह प्रतिबिम्ब उन बालकों का सन्निधान पाये बिना नहीं हुआ। लेकिन क्या यह जरूरी है कि हम उप बालकों का ख्याल निरन्तर बनाये रखते हुए दर्पण को देखें? हमें तो उन बालकों की ओर दृष्टि भी नहीं करना है, केवल दर्पण देखना है, ऐसा यत्न करें तो वह दर्पण वैसा ही दिखेगा जैसा कि प्रतिबिम्बित है। यद्यपि यह बात मानी हुई है कि बालकों का सन्निधान पाये बिना वह दर्पण प्रतिबिम्बित नहीं हुआ पर देखने की तो आवादी है। हम केवल दर्पण को ही निहारें तो बहां यह जानते रहेंगे कि यह दर्पण देखो ऐसा-ऐसा है, ऐसा क्यों हुआ है, इस ओर हम विचार न लाना चाहें यह हमारी मर्जी है। यह है एक निश्चयदृष्टि। हम दूसरी उपाधि का सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहते हैं। केवल एक ही वस्तु में उस ही वस्तु की बात निहारने का नाम निश्चय है। निर् मायने निकल गया चय मायने संचय जिस दृष्टि से उस दृष्टि का नाम है निश्चय।

जीव में विभावों का उदय हो रहा है, आस्रव हो रहा है। आस्रव मायने आना, उदय मायने निकलना। जीव में विभावों का उदय हो रहा है, उदय निकल रहा है, ये जीव के स्वभाव के ऊपरी स्थल पर विभाव आ रहे हैं और इस स्वभाव के ऊपरी भाग पर ये विभाव बंध रहे हैं। ऊपरी भाव का अर्थ यह न लेना कि जैसे एक चीज समूची नीचे पड़ी है और उसके ऊपर कोई चीज रक्खी है, यह तो जितने प्रदेशों में स्वभाव है उतने ही प्रदेशों में विभाव है। यहाँ ऊपर का अर्थ भावात्मक लेना है अर्थात् जीव के अन्तः स्वभाव में विभाव नहीं पड़ा है, किन्तु वह एक परिणमन के रूप में आया है। यह जीव का आस्रव है। देखो जीव में विभावों का आना यह आस्रव हुआ, जीव में विभावों का बांधना सो बंध है। जीव ने अपने उपयोग में उन विभावों को बाँध रखा है। उसे यह उपयोग हटाना नहीं चाहता। यहीं बंध हुआ। देखो यहाँ एक अचरज की बात कि जीव में जो विभाव उत्पन्न होते

हैं वे दूसरे क्षण नहीं रहते हैं। दूसरे क्षण अन्य विभाव हुआ, तीसरे क्षण अन्य विभाव हुआ, ये विभाव क्षण-क्षण में नाना हुआ करते हैं, लेकिन यह उपयोग यही समझ रहा है कि हम उसी विभाव को पकड़े हैं, वही सर्वस्व है, उन्हीं विकारों को यह भ्रान्त उपयोग में पकड़े हुए है। उपयोग विभावों को कहाँ पकड़ सकता है? विभाव तो एक क्षण हुआ, दूसरे क्षण मिट गया, पर उपयोग तो जिसे जान रहा है उस जानन के अनुसार तो उन, सबको पकड़े हुए है मानो अथवा उस विभाव सामान्य को यह जकड़े हुए है ना, यही उसका एक बंध है।

जब यह जीव भेदविज्ञानी होता है और इस विवित स्वरूप का परिचय पाता है तब यह जानता है। ये विभाव मेरे नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, औपशामिक भाव हैं। उन औपाधिकभावों से अपने स्वरूप को न्यारा कर लिया है। कैसे न्यारा किया? न्यारा किस जगह करें? वहाँ इसको कुछ अलग जगह ही नहीं है आत्मा में कि एक ओर विभाव धर दो और एक ओर स्वभाव धर दो। इस न्यारेपन में भी वहीं का वहीं स्वभाव है। लक्षण की दृष्टि से वही विभावों से आसव को जुदा निरखा जा रहा है। इस भेदविज्ञान से लो अब ये विभाव किल गए, स्वभाव में नहीं घुस सके। उपयोग की विचित्र महिमा है। हम आप लोगों की विजय भी एक इस सम्यग्ज्ञान उपयोग से ही हो सकती है। तो यह संवर हो गया। ऐसा सम्वर करने के कारण अब वे विभाव कहाँ रहेंगे माया की छाया पाये बिना? इन विभावों से कोई प्यार करने वाला नहीं रहा। तो ये विभाव जब सूखने लगते हैं, झङ्गने लगते हैं तो यही है जीव में निर्जरा पदार्थ, और जब यह जीव उन विभावों से मुक्त होकर केवल एक निज मात्र रह जाता है तो यही है जीव का मोक्ष। पुण्य पाप तो आस्रव के भेद हैं। जो विभाव आये थे उनमें जो साता सुख के कारणभूत हैं वे पुण्यभाव हैं और जो असाता कलेश के कारणभूत हैं वे पापभाव हैं। इस प्रकार जीव में ९ पदार्थों की व्यवस्था है। इस पदार्थ व्यवस्था को हम निश्चयदृष्टि से देखते हैं तो हेय तत्व इस जीव के साथ नहीं रह सकते। और यही आत्मा का एक कल्याण है। यह जीव १० स्थानक है। संसार अवस्था में इसके १० स्थान ऐसे बन जाते हैं जिसमें कोई जीव न छूटे और वह हो शरीर की दृष्टि से तो वे १० स्थान यों बनते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। ये सब काय हैं और उन कायों में एक दूसरे से विशेषता है। शरीर की विशेषताओं से संसारी जीव के १० स्थान ये बताये हैं। पृथ्वी का जो शरीर है वह इन ९ से अलग जाति को लिए हुए है, जल का शरीर इन ९ से जुदा जाति को लिए हुए है। इसी प्रकार यह होते-होते १० अथवा ९ से कुछ विभिन्न रूप को लिए हुए है। यह जीव यों १० स्थानों वाला है। निश्चय से देखा जाय तो इसमें ये १० स्थान नहीं हैं, एक शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है। अखण्ड अद्वैत चित्प्रकाशात्मक स्वभाव ही ऐसा है कि क्या करे क्या? यह जानना बनाता नहीं है, यह ज्ञान करता नहीं है, किन्तु यह ऐसे ही स्वभाव वाला है कि इसका जाननपरिणमन चलता रहता है। यह जीव निश्चय से शुद्ध एक ज्ञानानंदस्वरूप है, लेकिन व्यवहार से देखो तो यह इन १० स्थानों में प्राप्त है। अब इन १० स्थानों के विकल्प बढ़ा-बढ़ाकर कितने ही भावों, बढ़ाते जावो, सैकड़ों जीव समास बन जाते हैं। ये सब दस स्थान बताये गए हैं। एक दो तीन इत्यादि कहा करे, पर इन सबमें जीव तो वह एक अकेला ही है। जैसे कोई राजा बड़ी सज्जी-धज्जी सेना के साथ किसी अन्य स्थान पर पयान कर रहा है तो लोग यह कहते हैं कि आज राजा तो दो मील में फैल कर रहा है। अरे राजा तो साढ़े तीन हाथ का होगा, पर उस राजा के सम्बंध से जो कुछ ठाट-बाट होता है वह भी राजा का कहलाने लगा और यह राजा अब दो मील का लम्बा-चौड़ा बन गया। ऐसे ही यह जीव तो केवल एक चैतन्यस्वभावरूप है, किन्तु इस जीव का सम्बंध पाकर जो इतना संसारजाल बन गया है तो यह जीव अब उतने विकल्पोंरूप कहलाने लगा है। जीव तो एक चेतनस्वरूप है। अब इसके बाद इस अधिकार की अन्तिम गाथा आयगी।

पर्याणिद्विदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सब्दो मुक्को ।

बन्धमुक्त जीव की गति—यह जीव प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधों से सर्वप्रकार मुक्त होकर ऊर्ध्व को जाता है। न किसी दिशावों में जाता है और न विदिशावों में जाता है। जो जीव जिस स्थान से मुक्त होता है उसके ही ठीक सीध में लोक के अंत तक चला जाता है। सिद्धलोक ४५ लाख योजन प्रमाण है और जिस स्थान से जीव मोक्ष जा सकता है वह स्थान भी ४५ लाख योजन प्रमाण है। ढाई द्वीप का प्रमाण ४५ लाख योजन है। इससे बाहर मनुष्यों का गमन नहीं है। किसी भी प्रकार मनुष्य ढाई द्वीप से बाहर नहीं जा सकता। कोई देव मनुष्य को ले जायें तो भी मनुष्य ढाई द्वीप से बाहर नहीं जा सकता।

ढाई द्वीप के सर्वप्रदेशों से मुक्त होना—इस ढाई द्वीप में कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस प्रदेश से अनेक जीव मोक्ष न गए हों। लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र बडे विस्तार वाले समुद्र हैं वहाँ से भी जीव मोक्ष गए हैं। किसी बैरी देव ने उन्हें वहाँ पटक दिया हो और उस ही समय उनके शुक्लध्यान बना, घातियाकर्मों का क्षय हुआ और वहाँ से सिद्ध हो गए। यों समुद्र में भी प्रत्येक प्रदेश से यह जीव मोक्ष गया है। पर्वतों से भी यह जीव मोक्ष गया है। हाँ मेरूपर्वत के ऊपर घटती हुई चूलिका बनी है ना, तो शंका यह हो सकती है कि उस मेरू पर्वत के ऊपरी भाग से चूलिका से मोक्ष कैसे गए होंगे? उसके ऊपर तो ठहरने योग्य स्थान ही नहीं है। उस चूलिका के ऊपर सिर्फ एक बाल की मोटाई बराबर हिस्सा अन्तर में है और उसके ऊपर इन्द्रक विमान है प्रथम स्वर्ग का तब इस जगह से मुनि मोक्ष कैसे गये होंगे? उसका उत्तर यह है कि कोई मुनि ऋषिधारी ऋषिबल से उस मेरू पर्वत पर से जा रहा है और मेरूपर्वत के ठीक बीच में वह हो और वहाँ ही शुक्लध्यान बना, घातिया कर्मों का क्षय हुआ और वही से मोक्ष चले गए तो सीध तो यही बैठाना? वहाँ से भी अनेक जीव मुक्ति गये हैं।

चतुर्विधबन्धमुक्ति—मुक्ति का अर्थ है छूट जाना। जो छूटने योग्य वस्तु हैं परपदार्थ हैं, जिनके सम्बन्ध से यह संसार अवस्था बन रही है उन पर-उपाधियों से क्षुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। वह पर-उपाधि है कर्म। कर्मों में चार प्रकार का बन्धन है—प्रकृति का बन्धन, अमुक निषेक इस जीव को इस प्रकार के फल देने में निमित्त होंगे। उस फल की जाति बन जाय। जैसे ज्ञानावरण ज्ञान का आवरण करे, इत्यादि। तो यों उनमें प्रकृति का बन्धन है। ये कर्म, इतने दिन रहेंगे। इस जीव के साथ इतने दिन बाद उदय आयगा, ऐसी उनमें स्थिति पड़ गयी। यह स्थितिबंध है। उन कर्मों में फल देने की शक्ति बन जाय, यह इतनी डिग्री का फल देगा, यह अनुभाग बंध है और उन प्रदेशों का जीवप्रदेश के साथ बन्धन हो जाय, यह है प्रदेशबन्धन। यह जीव उन चार प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर ऊर्ध्व लोक में जाता है।

व्यवहार में बन्धन और मुक्ति—यद्यपि निश्चयदृष्टि से इसके स्वभाव को निरखने पर यह प्रतीत होता है कि इस जीव में तो यही जीव है, परपदार्थ कहाँ लिपटे हुए हैं? स्वभावदृष्टि से निरखने पर केवल स्वभाव ही दृष्टिगोचर होता है, लेकिन केवल इतनी ही बात तो नहीं है। जो निश्चयदृष्टि से यहाँ देखा जा रहा है, निश्चय की दृष्टि में निश्चय की बात है, किन्तु यह जीव कर्मों से घिरा है, विभावों का इसमें मेल है ये सब बातें भी तो चल रही हैं। उनसे यह जीव मलिन हो रहा है, सो यह मलिनता उन उपाधियों का बन्धन मिटाये बिना दूर न हो सकेगी। जब जीव इन अंधों से सर्वप्रकार मुक्त हो जाता है तो स्वाभाविक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति से सम्पन्न होकर अह जीव एक ही समय में मोड़ों रहित गति से ऊर्ध्व को प्राप्त हो जाता है।

संसारी जीव की विग्रहगति—जब जीव संसार अवस्था में रहता है तो मरण के बाद जन्म स्थान पर पहुंचने में किसी जीवको, १, किसी को २ और किसी को ३ भी मोड़े खाने पड़ते हैं। चौथा मोड़ खाने की आवश्यकता नहीं रहती। इस लोक के किसी भी स्थान से मरकर किसी भी विषम स्थान पर उत्पन्न हुआ तो भी तीन मोड़ से अधिक मोड़ लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

मरण के बाद औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर न होने के कारण इसकी गति यथातथा नहीं हो पाती। आकाश की श्रेणियों के अनुसार गति होती है तब उन श्रेणियों से चलने पर कोई स्थान ऐसा भी है कि जहाँ एक मोड़ कहीं-कहीं और कहीं तीन मोड़ लेने पड़ते हैं, किन्तु मुक्त होने पर जीव तो जहाँ से भी मुक्त हुआ है उस ही की सीध में जाता है। उसकी गति में मोड़ा नहीं होता। उनकी गति अविग्रह गति कहलाती है। विग्रह का अर्थ मोड़ भी है, विग्रह कर अर्थ शरीर है। इस प्रकरण में विग्रह का अर्थ मोड़ है। मोड़ सहित गति को विग्रहगति कहते हैं। विग्रहरहित गति को अविग्रहगति कहते हैं। दूसरा विग्रहगति का अर्थ है विग्रह पाने के लिए गमन। विग्रह का अर्थ शरीर भी है। जैसे व्यवहार में भी लोग कहते हैं उसे जिसका शरीर बड़ा तगड़ा हो कि इसका विग्रह बड़ा पुष्ट है, नया विग्रह धारण करने के लिए जो गति होती है उसका नाम विग्रहगति है। यह सिद्ध प्रभु अविग्रह होने पर गति अविग्रह पद्धति से करते हैं, ये विदिशावों में गमन नहीं करते। जो बद्ध जीव है उसकी तो ६ गतियां हैं। कार्माणकाययोग में मरण के बाद जन्म के अनन्तकाल में ६ अपक्रम में गति होती है, किन्तु मुक्त जीव के तो केवल एक स्वभाव की गति है।

मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति की प्रथम मुक्ति—तत्वार्थसूत्र में एक समाधान है इस प्रश्न का कि मुक्त जीव ऊपर ही क्यों जाता है? और इसके दृष्टांत भी दिये हैं। एक उत्तर यह बताया है कि इन जीवों को पूर्व का संस्कार है, प्रयोग है। जिन जीवों ने मुनि अवस्था में सिद्ध लोक की ओर दृष्टि लगाई थी, सिद्ध प्रभु का स्मरण भी उन्होंने ऊर्ध्वलोक में ही अपना उपयोग लगाकर किया था और उस सिद्ध लोक में उनकी सिद्ध होकर रहने की चाह भी थी, पीछे वे निर्विकल्प होकर कर्मों का क्षय कर सिद्ध होते हैं तो अब वे उस पूर्वप्रयोग के कारण सीधे उस ही जगह पहुंच जाते हैं। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है चक्र पर, तो वह चक्र को डंडे से २ मिनट खूब घुमाता है, घूमने के बाद फिर उस डंडे के छोड़ देता है, फिर भी दो-तीन मिनट तक वह चक्र घूमता ही रहता है क्योंकि इस चक्र को पूर्व का प्रयोग मिला है।

मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति की द्वितीय युक्ति—दूसरी युक्ति यह है कि मुक्त जीव चूँकि सर्वथा निःसंग है। कर्मों का संग नहीं रहा, देह का संग नहीं रहा, भारहित हो गए हैं, इस कारण उसका गमन ऊपर की ओर होता है। जैसे जल में कीचड़ इत्यादि से भरी हुई तूंबी डाल दी जाय तो वह जल में डूब जाती है, पर कीचड़ बह जाने पर वह तूंबी फिर ऊपर तैरने लगती है। इस प्रकार कर्मों के भार से सहित हो वैसे यह जीव संसार-समुद्र में गोते खा रहा है, जब संग, भार, कर्म, शरीर, विभाव ये सब दूर हो जाते हैं तो निर्भार होने के कारण यह जीव स्वभावतः ऊपर ही जायगा।

मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति की तृतीय युक्ति —तीसरी युक्ति है कि जब तक यह जीव बंध में बँधा हुआ है तब तक तो यह यहीं नीचे रह रहा है और जिस काल इस जीव के बंध का छेद होता है तब ऊर्ध्व दशा में ही जाता है। जैसे ऐरेन्डा के बीज पर छिल का लगा हुआ है ऊपर, जब तक उसका छिल का साबूत है वहीं का वहीं है और जब उसका छिल का टूटता है, अलग होने को होता है उस समय यह बीज स्वभाव से ऊपर आ जाता है। फिर ऊपर जाकर नीचे गिरता है इसको दृष्टान्त में नहीं लेना है, क्योंकि दृष्टान्त एक देश हुआ करता है। जितना प्रयोजन होता है उतना ही अंश लिया जाता है। जब जीव के कर्म, शरीर इत्यादि का सम्बंध नहीं रहा तब यह जीव ऊपर दिशा में ही अपना गमन करता है।

मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति की चौथी युक्ति —चौथी युक्ति बतायी है कि जीव का इस प्रकार गमन करने का स्वभाव ही है। जैसे अग्नि की शिखा पर कोई थाली आदि का आवरण होने से वह यहाँ वहाँ जाय, पर निरावरण शिखा का ऊपर ही उठने का स्वभाव है, इसी प्रकार जीव पर कर्मों का जब तक आवरण है तब तक भले ही ऊपर नीचे यहाँ वहाँ कैसा ही घूमा करे, पर जब ये सब आवरण हट जाते हैं तो यह स्वभाव से ऊपर को ही जाता है।

बन्धन की सिद्धि—इस गाथा में सीधे रूप से कहा तो इतना ही है कि यह जीव सर्वप्रकार बंधों से सुक्त होकर ऊर्ध्व को ही

जाता है, किन्तु इसमें कितनी ही स्थितियों भरी पड़ी हैं। प्रथम तो यही सिद्धान्त सिद्ध होता है कि यह जीव बन्धन से बँधा हुआ था। कुछ दार्शनिक लोग इस जीव को बँधा हुआ नहीं मानते। यह जीव तो सदाशिव है, उसमें बन्धन नहीं कड़ा है। केवल एक प्रकृति के सम्बंध से बन्धन का भ्रम हो गया है,, लेकिन यह बात तो एकदम विरुद्ध प्रतीत होती है। अरे भ्रम से बन्धन मासूम होता है तो यह भ्रम किसमें लगा हुआ है? जो जाननहार है उसमें ही तो भ्रम लगा है। जो भ्रम से न बंधे हुए को भी बँधा हुआ निरख रहे हैं तो क्या भ्रम कम बन्धन है? यही तौ विकट बन्धन है। यह जीव बन्धन से मुक्त था, एक यह बात सिद्ध होती है।

जीव के अस्तित्व की पुष्टि—बन्धन से मुक्त होने के बाद उसका अस्तित्व बना रहा है यह भी इस गाथा से सिद्ध होता है। कहीं ऐसा नहीं है दीपक के निर्वाण की तरह यह आत्मा भी बुझ जाता हो। कहीं न रहता हो इसका नाम मुक्ति है, ऐसा नहीं है। यह आत्मा एक सद्भूत है, वह बन्धन से मुक्त होकर भी रहता है। कहाँ रहता है वह? सिद्ध लोक में रहता है। वहाँ चला जाता है। बन्धन मुक्त होने के बाद इस आत्मा की सत्ता रहती है, यह सिद्ध हो जाता है और इसकी सिद्धि के ही प्रसंग से वह ज्ञानात्मक है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है आदिक सभी चमत्कार उसमें प्रसिद्ध हो जाते हैं।

अलख निरञ्जन—लोग प्रभु के सम्बन्ध में यह महिमा बताया करते हैं कि यह अलख है, निरञ्जन है और चिदानन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्दमय है, किन्तु इन विशेषणों का जो विस्तार है, फैलाव है उस फैलाव में जब तक रुचि नहीं जगती है तब तक ईश्वर का मानना, न मानना समान ही हुआ। आत्मा तो अमूर्त है तब वह इन्द्रियों द्वारा लक्ष्य में कैसे आये? जिसको जब लक्ष्य में आता है तब वह उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता है इस कारण यह प्रभु अलख है। भावकर्म अथवा द्रव्यकर्म व शरीर मल से दूर हुए हैं वे, अतएव निरञ्जन हैं, इसी कारण कृतकृत्य हैं। कुछ काम ईश्वर को करने को नहीं पड़ा है, जहाँ कुछ करने को पड़ा है वहाँ क्षोभ रहता है।

वस्तुस्मातन्त्य की प्रतीति में शान्तिमार्ग पर गमन—जब तक पदार्थ में स्वयं उत्पाद-व्यय-भ्रौव्य है ऐसी प्रतीति नहीं होती है तब तक हम मुक्ति के मार्ग में, शान्ति के मार्ग में बढ़ ही नहीं सकते हैं। अज्ञान का शल्य बहुत बड़ा शल्य होता है। कितनी ही भक्ति करे, कितना ही परोपकार करे, कितना ही दया दान आदिक प्रवृत्ति करे, उदारता भी दिखाये, देश के लिए अपना जीवन भी होम दे, फिर भी यदि वस्तुविषयक अज्ञान पड़ा हुआ है, प्रत्येक पदार्थ कितना है और तह अपने ही उत्पाद-व्यय-भ्रौव्यरूप से बना रहा करता है ऐसी, स्वतंत्रता जब तक विदित नहीं होती तब तक जीव पर के रूप से हटकर अपने ज्ञानप्रकाशमात्र स्वरूप में ठहर नहीं सकता। और जब यह अपने स्वरूप में न ठहरे, पर की ओर लगेगा तो इस जीव को प्रकृत्या अशान्ति रहेगी। इसी कारण जो शान्ति के इच्छुक पुरुष हैं वे इस ही ज्ञानमार्ग में अपना कदम बढ़ाते हैं।

अपनी निधि की मूल का परिणाम—भैया! जो बात हम चाहते हैं वह हमारे स्वभाव में है इसी समय है, भरपूर है, लेकिन धर में गड़ी हुई निधि का पता न कहो तो वह पुरुष दरिद्र की तरह व्याकुल रहा करता है, इस ही प्रकार जब हमें अपने स्वभाव का अपनी प्रभुता का भान नहीं है तो किसी भी परपदार्थ में जो समस्त असार हैं भिन्न हैं उनमें इष्ट अथवा अनिष्टबुद्धि कर के हम अपनी कषय के अनुकूल उन्हें परिणामने के लिए दीन बने रहा करते हैं। किसी इतना साहस बने, संकल्प बने कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, पदार्थ का अधिकारी कर्ता भोक्ता कुछ भी नहीं हूँ। जब तक वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता का भान नहीं होता तब तक मोक्ष के मार्ग में हमारा कदम नहीं बढ़ सकता।

व्यवहार की ज्ञेयता—यद्यपि वस्तु की सिद्धि निश्चय और व्यवहार—दोनों नयों से होती है, लेकिन स्थिति जानने के लिए दोनों नय कार्यकारी हैं, फिर भी हम किस नय के विषय में अपनी दृष्टि गड़ाये, लक्ष्य बनायें कि हम निर्विकल्प समाधि में रत हो सके। कुछ गम्भीर यत्न के साथ इसका निर्णय करिये। व्यवहारनय कहता है कि यह आत्मा कर्मों से बँधा है। ठीक है, यह बात

गलत नहीं है, परिस्थिति ऐसी है, लेकिन साथ ही यह भी तो है कि यह आत्मा अपने ही सत्व के कारण केवल अपने प्रतिभास स्वरूप है। अब इन दोनों में से हम केवल व्यवहारनय के विषय का लक्ष्य बनाकर रह जायें, देखो यह आत्मा कर्मों से बँधा है, कर्म के उदय से इस जीव को सुख दुःख मिलता है और-और भी सोचते जाइए। इस चिन्तन से आपने कौनसी निर्विकल्पता पा ली? अतएव व्यवहारनय का विषय लक्ष्यरूप बनाने के लिये नहीं होता, किन्तु व्यवहारनय परिस्थिति का ज्ञान कराता है। और लक्ष्य में विद्धि विषयकषायों से बचने के लिए कुछ उपाय बताता है।

निश्चय का लक्ष्य—अब निश्चयनय के लक्ष्य पर दृष्टि करिये। कुछ भी अपनी परिस्थिति हो अर्थात् कर्मों से बँधे हैं, शरीर से बँधे हैं, रागादिक भी हो रहे हैं, इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी निश्चयनय के विषय पर अपना उपयोग तो पहुंचाइये। यह मैं आत्मा एक प्रतिभासस्वरूप हूँ, इस मुझ आत्मा का प्रतिभास ही लक्षण है, यही स्वभाव है। स्वभाव स्वभाववान कुछ जुदे नहीं हैं। केवल यह चित्प्रकाशमात्र मैं हूँ। अनादि अनन्त सर्व से विवित्त केवल अपने स्वरूपमात्र चित्स्वभाव हूँ। जरा गहन दृष्टि से इस ओर मनन तो हो, फिर देखो मनन से आत्मतत्त्व में कौनसी समृद्धि जगेगी? निर्विकल्प अखण्ड अन्तस्तत्व की ओर इसकी दृष्टि जगेगी और यह उस ही समय शान्ति का अनुभव कर लेगा।

करणीय कृत्य—भैया! हम, सबका यही तो काम है करने का कि अपने बारे में निश्चय और व्यवहार से सभी प्रकार की जानकारी कर लें और लक्ष्य बनायें निश्चयनय के विषय का उसमें भी परमशुद्ध निश्चयनय के विषय का और चूँकि हम चिरकाल से विषयकषायों के बन्धन में बँधे चले आ रहे हैं, उनसे मुक्त होने के लिए प्रथम व्यवहार का उपाय करें ताकि विषयकषायों को तुरन्त रोक लें और उस अवसर में शुद्ध ध्यान के प्रताप से हम शांति का मार्ग प्राप्त कर सकें। यही एक मुख्य कार्य है जिससे सर्व संकटों से मुक्त होकर हम सदा के लिए अनन्त आनन्द में रह रहेंगे।

जीव तत्त्व के अवगम का मूल प्रयोजन—जीवास्तिकाय के व्याख्यान के इस अधिकार में जो प्रथम गाथा आई थी उसमें ९ उपाधिकारों का निर्देश है। जीव, चेतयिता, उपयोगविशेषित, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त व, कर्मसंयुक्त। इनके सम्बन्ध में पूर्वानुपूर्वी, पश्चादनुपूर्वी व यथातथानुपूर्वी से उन अंतराधिकारों में जीवास्तिकाय का वर्णन कर के चूँलिकारूप में उसका कुछ और विवरण किया। जीव पदार्थ के अवगम का प्रयोजन यह है कि हम जीव हैं, अपने सहजस्वरूप को पहिचाने और इसमें ही रत हो, इसमें ही सर्वकल्याण है।

पूज्य श्री गुरुवर्य मनोहर जी वर्णी “सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित “पञ्चास्तिकाय प्रवचन” का यह तृतीय भाग सम्पन्न हुआ।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥